जैन भारती

वर्ष 49 • अंक 9 • सितंबर, 2001

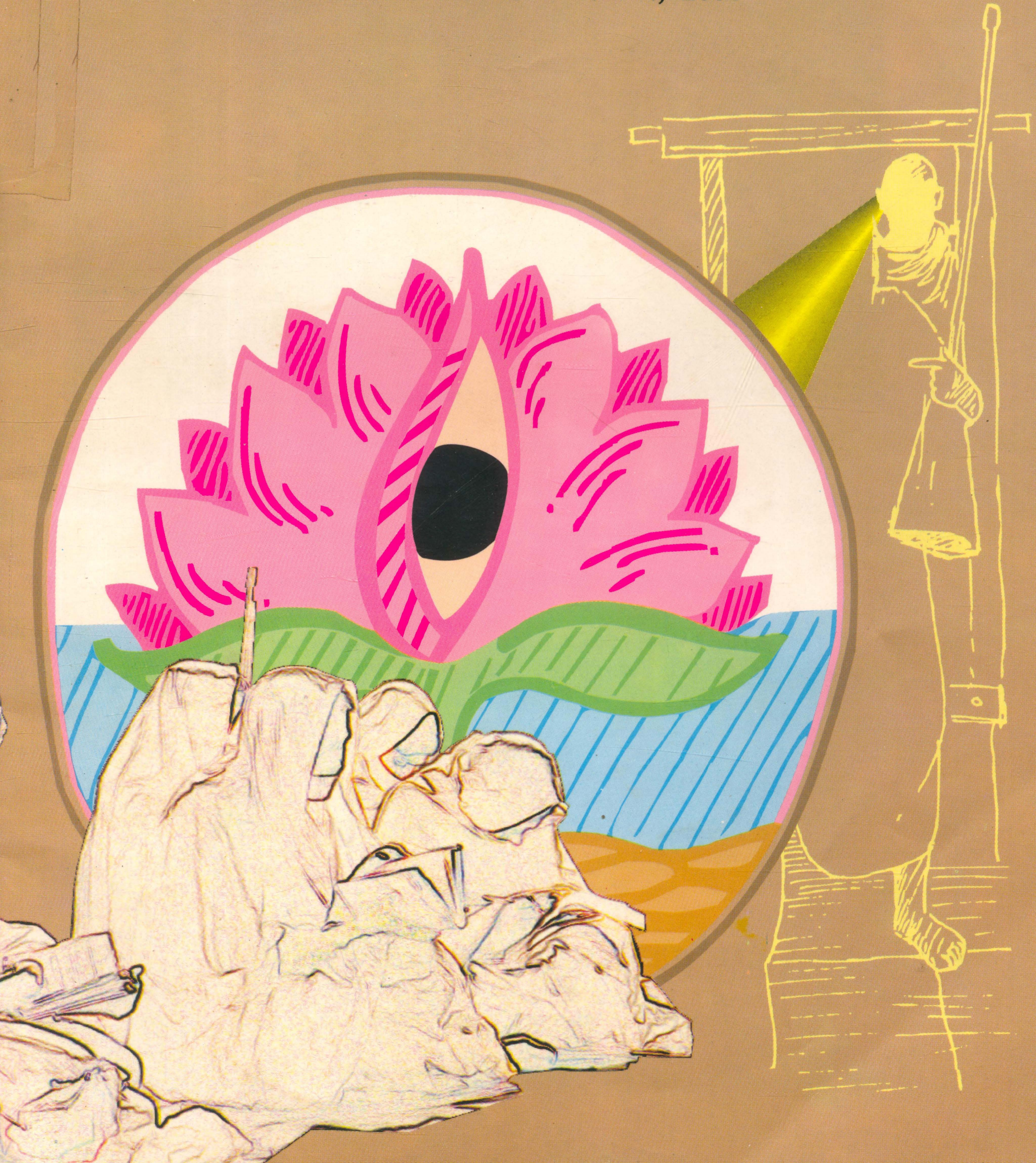

With best compliments from :

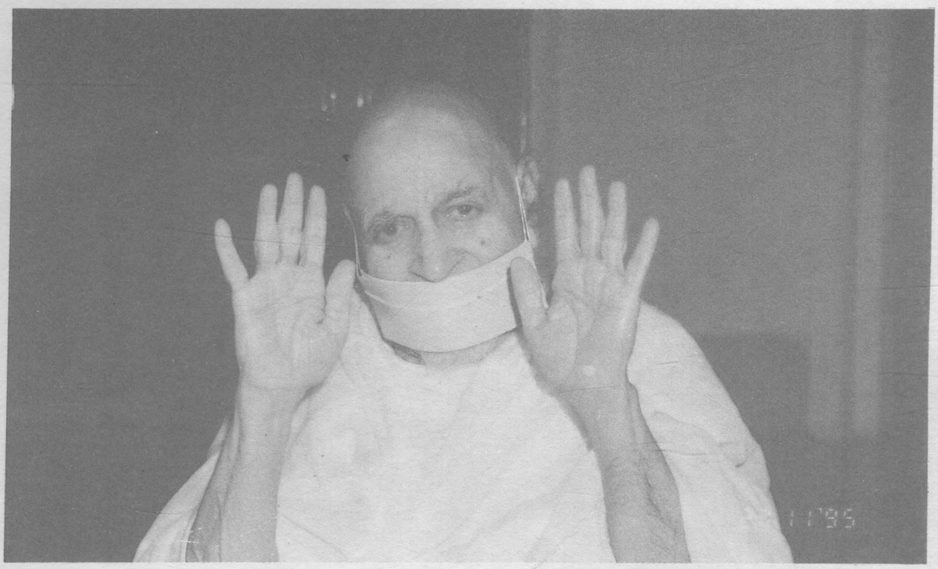

AMIT®
A CHOPRA PRODUCT
Mfg. Art Silk Sarees & Dress Material

AMIT - SYNTHETICS

Shop : W-3207, Surat Textile Market
Office : 402, Anand Market, Ring Road
SURAT 395002
Phone : 622076, 625680, 622027 Fax : 0261-636651

PEMCHAND CHOPRA CHARITABLE TRUST
W-3207, Surat Textile Market
Ring Road, SURAT

●

JHAMKUDEVI CHOPRA CHARITABLE TRUST
11-A,B, Sai Ashish Society
Udhaua Magdalla Road, SURAT

शुभू पटवा
मानद संपादक
•
बच्छराज दूगड़
मानद सह-संपादक

जैन भारती

सितंबर, 2001 | वर्ष 49 | अंक 9 | रु. 15.00

प्रसंग

5
शुभू पटवा
संपन्नता : एक कसौटी

विमर्श

9
डॉ. विष्णुकांत शास्त्री
शिक्षा : तेजस्विनावधीतमस्तु

15
चतरसिंह मेहता
शिक्षा और जीवन विज्ञान

19
डॉ. जिनेन्द्र जैन
शिक्षा की मूल्यवत्ता : आगमिक संदर्भ

अनुभूति

27
आचार्यश्री महाप्रज्ञ
जरूरी है दर्शन की सीमा का विस्तार

30
साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा
महावीर का शिक्षादर्शन

33
साध्वी निर्वाणश्री
हिंदी के प्रसार में तेरापंथ का योगदान

35
कहानी
सुदर्शन
अपनी तरफ देखकर

40
कविता
यतीन्द्र मिश्र की कविताएं

शीलन

43
साध्वी श्रुतयशा
स्त्रीकथा और उसके प्रतिफल

47
साध्वी मुदितयशा
पराक्रम की विलक्षणता

49
यशपाल जैन
हम क्या करें

51
बालकथा
रवीन्द्रनाथ ठाकुर
इच्छापूरण

55
जैन भारती पाठक पहेली

•
आवरण
अडिग-खेराज

सदस्यता शुल्क
वार्षिक 125/- रुपये
त्रैवार्षिक 350/- रुपये
दसवर्षीय 1000/- रुपये

प्रधान कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट
कोलकाता 700001

प्रकाशकीय कार्यालय
जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा
तेरापंथ भवन, महावीर चौक
गंगाशहर, बीकानेर 334401

'आज कोई भी बड़ा वैज्ञानिक विज्ञान की मूल्य-निरपेक्षता का आग्रह नहीं करेगा, बल्कि जीव-विज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों के वैज्ञानिक यह स्वीकार करेंगे कि आज विज्ञान के सामने मूल्यों का बड़ा संकट है, एक बहुत बड़ी चुनौती है जिसका सामना विज्ञान एक सफल मूल्य-दृष्टि और एक अध्यात्म-विज्ञान अपनाए बिना कर ही नहीं सकता। जब तक वैज्ञानिक के सामने यह संभावना नहीं थी कि वह सचमुच मूल्य-निरपेक्ष मानव-समाज का निर्माण कर सकता है—जीवकोश को ही प्रभावित करके प्राणी मात्र के विकास को मूल्य-निरपेक्षता की दिशा में ठेल दे सकता है—तभी तक वह मूल्य-निरपेक्ष और 'वैल्यू-फ्री' उद्यम का दावा कर सकता था। आज यह संभावना उसके सामने है और वह सहम गया है। और यह सहमना उचित है, एक मूल्य-दृष्टि का परिणाम है और मूल्यों की चुनौती है। जिस जिम्मेदारी का द्वार वैज्ञानिक के सामने खुल गया है उसके लिए वह तैयार नहीं है और उसे अपनाना नहीं चाहता। बल्कि उसके स्वीकार को वह गलत भी समझता है। क्यों और कैसे गलत समझता है? क्योंकि उसके पास एक मूल्य-दृष्टि है। अगर विज्ञान मूल्य-निरपेक्ष है तो यह मूल्य-दृष्टि उसे कहां से मिली है? अगर संस्कृति से, तो विज्ञान अपनी मूल्य-निरपेक्षता के बावजूद संस्कृति के घेरे में आ जाता है; और अगर स्वयं विज्ञान से, तो फिर उसके मूल्य-निरपेक्षता के दावे का क्या होता है? वास्तव में यही कहना आज सही होगा कि सारे संसार में बड़े वैज्ञानिक आज फिर एक नैतिक चुनौती की देहरी पर खड़े हैं—नैतिक चुनौती अर्थात् मूल्य-दृष्टि की चुनौती। यह मानना सही नहीं है कि मूल्य-दृष्टि केवल संस्कृति की देन होती है अथवा केवल विज्ञान की उपज होती है। लेकिन विज्ञान कभी मूल्य-निरपेक्ष नहीं हो सकता और संस्कृति भी कभी उन सत्यों के प्रति एकांत उदासीन नहीं हो सकती जिनका आधार भौतिक जगत है; यद्यपि उसका एक प्रमुख आग्रह उन सत्यों के प्रति बना रहेगा जो मानव के आभ्यंतर जगत से, उसकी कामना और आकांक्षा से, उसके सुख-दुखों से, उसके सामाजिक परिवेश से और परिवेश के बंधनों से अपेक्षया मुक्त होने अथवा रहने की उसकी सहज प्रवृत्ति से संबंध रखते हैं।'

—अज्ञेय

हिंसा और अहिंसा का मूल स्रोत, आत्मा की असत् और सत् प्रवृत्ति है। जीव-घात या जीव-रक्षा उनकी कसौटी नहीं है। यह व्यावहारिक दृष्टि है। जहां प्रवृत्ति असत् होती है और जीव-घात भी होता है, वहां व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से हिंसा होती है। जहां प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात भी नहीं होता, वहां व्यवहार और निश्चय दोनों दृष्टियों से अहिंसा होती है। प्रवृत्ति सत् होती है और जीव-घात हो जाता है, वहां निश्चय-दृष्टि से अहिंसा और व्यवहार-दृष्टि से हिंसा होती है। प्रवृत्ति असत् है और जीव-घात नहीं होता, वहां निश्चय-दृष्टि से हिंसा और व्यवहार-दृष्टि से अहिंसा है। जैसे व्यवहार-दृष्टि की अहिंसा से धर्म नहीं होता, वैसे ही व्यवहार-दृष्टि की हिंसा से पाप नहीं होता। जैसे जीव-घात होने पर भी व्यावहारिक हिंसा बंधनकारक नहीं होती, वैसे ही जीव-रक्षा होने पर भी व्यावहारिक अहिंसा मुक्तिकारक नहीं होती।

'भिक्षु विचार दर्शन' से

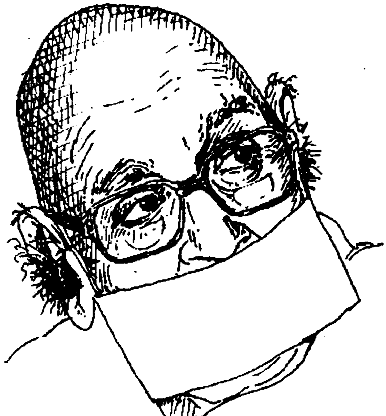

ज्ञान और आचरण—ये दोनों एक सिक्के के दो पहलू हैं। ज्ञान हो और आचरण न हो, यह ज्ञान की सार्थकता पर प्रश्नचिह्न खड़ा करता है। आचरण हो और ज्ञान न हो, यह घुणाक्षर न्याय वाली कहावत को चरितार्थ करता है। वास्तव में ज्ञानपूर्वक होने वाला आचरण ही व्यक्ति को लक्ष्य की दिशा में अग्रसर कर सकता है। इस बात को ध्यान में रखकर कहा गया है—'पढमं नाणं तओ दया'—पहले ज्ञान और फिर आचरण। ज्ञानवादी लोग केवल ज्ञान को ही सब-कुछ मानकर चलते हैं। क्रियावादी ज्ञान की उपेक्षा करते हैं और आचरण को मोक्ष का प्रधान अंग मानते हैं। ये दोनों दृष्टिकोण एकांगी हैं। ज्ञान के अभाव में आचरण की समीक्षा कैसे होगी? ज्ञान है और आचरण नहीं है तो ज्ञान का क्या मूल्य होगा?

जैन दर्शन अनेकांतवादी दर्शन है। उसमें समन्वय के तत्त्व भरे पड़े हैं। उसकी तत्त्व निरूपण शैली व्यावहारिक है। उसकी दृष्टि में न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। वह सापेक्ष प्रतिपादन करता है।

—आचार्यश्री तुलसी

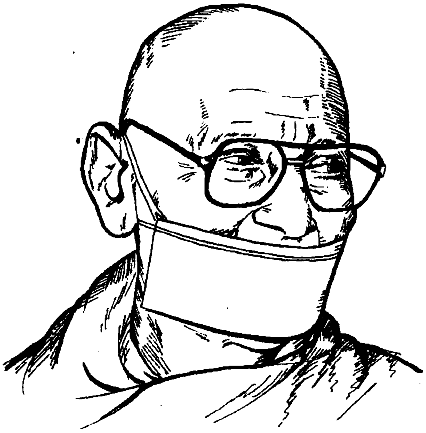

एक ज्वलंत प्रश्न है—अर्जित राशि का उपयोग कैसे करें? अर्थ का अर्जन व्यक्ति अपने श्रम से करता है, इसलिए उसका उपयोग अपने लिए ही करे, यह एक पहलू है। इसका दूसरा पहलू यह है कि अर्थ का मूल स्रोत समाज है, इसलिए उसका उपयोग समाज के लिए होना आवश्यक है। कितना अपने लिए और कितना समाज के लिए—इसका कोई सर्वसम्मत मानदंड नहीं बन पाया है, फिर भी वास्तविकता से आंखमिचौनी नहीं करनी चाहिए। अर्जित अर्थ का उपयोग केवल अपने लिए ही हो, यह अति स्वार्थ है, सामाजिक न्याय का अतिक्रमण है। सामाजिक श्रम से अर्थ का अर्जन करे और उपभोग केवल अकेला करे, अर्थ का यह सबसे अधिक अंधकारमय पक्ष है। उपभोग का सामाजिक न्याय है—संविभाग—बांट-बांट कर खाना। यह सिद्धांत किसी धर्म, कर्म से जुड़ा हुआ नहीं है। इसका मूल उत्स है सामाजिक न्याय।

समाज में प्रतिक्रियात्मक हिंसा अधिक हो रही है। उसका हेतु है बड़प्पन का काल्पनिक मानदंड। जिसके पास प्रचुर धन है, वह उसका प्रदर्शन करता है, अपव्यय करता है—यह है संग्रह का दुरुपयोग। इससे प्रतिक्रियात्मक हिंसा का जन्म होता है।

वर्तमान विश्व में अनेक उद्योगपति अथवा धनपति ऐसे भी हैं, जो अर्थ का प्रचुर मात्रा में अर्जन करते हैं, पर उसका व्यक्तिगत उपयोग एक निश्चित सीमा में ही करते हैं, शेष अर्थ का उपयोग समाज-कल्याण के लिए करते हैं—यह सामाजिक न्याय है। इस स्थिति में अर्थ का संग्रह प्रतिक्रियात्मक हिंसा को जन्म नहीं देता।

—आचार्यश्री महाप्रज्ञ

प्रसंग

संपन्नता : एक कसौटी

संपन्नता और दरिद्रता का माप-तौल सामान्यतया भौतिक वैभव से ही होता रहा है। जहां भौतिक संसाधनों या अर्थ की बहुलता होती है—समाज उन्हें ही संपन्न मानता आया है। इसका यह अर्थ कतई नहीं कि चारित्र और ज्ञान-संपन्न व्यक्तियों का समाज में कोई महत्त्व नहीं है। समाज उन्हें भी सम्मान और कई बार तो आदर की दृष्टि से भी देखता रहा है। वे लोग जो घर-गृहस्थी और सामाजिक आपाधापी से मुक्त होकर ज्ञान और अध्यात्म की साधना में रत हैं, उन्हें तो समाज श्रद्धा भी देता है। हम देखते ही हैं कि साधु-संन्यासियों के प्रति भारतीय समाज सदा श्रद्धाशील रहा है। अलबत्ता यह भी सच है कि कई बार गणवेश और कर्म-कांड ही पूजनीय हो जाता है और ज्ञान या चारित्र पर विशेष ध्यान ही नहीं जाता। गणवेश या कर्मकांड से पूजनीय समझ जिनके प्रति समाज श्रद्धानत होता है, देखा जा सकता है कि वे भौतिक संसाधनों और वैभव के सामने झुके-से प्रतीत होते हैं। अक्सर यह देखने में भी आता है कि आज के समय में येन-केन-प्रकारेण जो लोग अर्थ-संपन्न हैं, वे ज्ञान और चारित्र-संपन्न लोगों पर 'हावी' हुए नजर आते हैं और लगता है कि कभी कही गई यह बात—'संतन को कहा सीकरी सों काम' अब अपना पर्याय खो चुकी है। अब तो लगता है कि जो अर्थ-संपन्न हैं उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा पाने के लिए कोई सहारा चाहिए और जो ज्ञान व चारित्र-संपन्न हैं उन्हें तेजी से दौड़ रही इस दुनिया में जगह बनाए रखने के लिए उनकी बैसाखियां चाहिए। यह आज के समाज की एक विसंगति है, एक विद्रूप।

पर, एक दूसरा पहलू भी है। वह क्या है?

क्या भौतिक संसाधनों और अर्थ में आकंठ डूबा व्यक्ति भी दारिद्र्यभरा माना जा सकता है, या कि ज्ञान और चारित्र-संपन्न व्यक्ति भी सर्वथा 'कोरा' हो सकता है? लगता है, दोनों ही दशाएं इस समाज में मौजूद हैं।

हम देखते हैं कि जो बेहिसाब अर्थ-संपन्न हैं, उनकी तृष्णा फिर भी बुझी नहीं है। अर्जन करना व्यक्ति की सामर्थ्य और उसकी दक्षता मानी जाती हैं, पर एक सामाजिक प्राणी होने के नाते यदि उसकी वह दक्षता और क्षमता सामाजिक सरोकारों से आबद्ध नहीं हैं तो क्या ऐसा अर्थ-संपन्न व्यक्ति दरिद्र नहीं कहा जाएगा? कौन दरिद्र हैं और कौन संपन्न? वह, जो अपने अर्थ का अल्पांश समाज को देकर (मन–बेमन) अपना दायित्व पूरा हुआ मान लेता है या वह जो अल्पांश-भर अपने लिए रख शेष समाज को अर्पित करता है? इस बात को दूसरी तरह से भी देखा जा

सकता है—एक व्यक्ति ऐसा है जो अपनी दक्षता-कुशलता को पूर्णतः सामाजिक सरोकारों के लिए समर्पित करता है और उतना ही अर्थार्जन करता है जो पोषण के लिए अपेक्षित है, तो इस हिसाब से संपन्नता या दरिद्रता की कसौटी में कौन संपन्न है और कौन दरिद्र ? हम अपना आकलन स्वयं करें।

मनुष्य अंततः सामाजिक प्राणी है। समाज में व्याप्त विषमता, असंतुलन और विसंगतियों के बीच समतौल रखना मनुष्य के ही हाथ में है। सहजीवी जीवन से यह समतौल रखा जा सकता है। यह छोटा-सा उदाहरण कई बार दोहराया जाता है कि 'हाथ की पांचों अंगुलियां भी बराबर नहीं', पर ये एकमुश्त हैं तो इनकी क्षमता–सामर्थ्य अपरिमित है। तात्पर्य यह कि हर मनुष्य में कोई-न-कोई विशिष्टता, योग्यता या दक्षता नैसर्गिक रूप में विद्यमान है और सहजीवी समाज में सब एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं। इस तरह यह नहीं देखा जाता कि किस की क्या विशेषता है या कि कमी ? सहजीवी हैं तो एक के सब हैं और सब एक के साथ हैं।

सहजीवी समाज-विकास के प्रयोग कोई नए नहीं हैं, ऐसे प्रयोग होते रहे हैं। हम यदि देखना चाहें तो इजराइल के सहजीवी गांव के प्रयोग देख सकते हैं। इजराइल के दगैनियां गांव के छोटे कद के एक किसान युसुफ वरात्ज के बारे में कहा गया है—'यह न केवल कुछ ऐसे निष्ठावान लोगों की कहानी है, जो एक बेहतर किस्म का जीवन जीना चाहते थे, बल्कि इसके पीछे यह भावना भी काम करती रही है कि मनुष्य को अपनी-अपनी संकुचित गृहस्थी के संकीर्ण दायरे में जीने के बजाय अन्य लोगों के साथ, एक-दूसरे के जीवन और सुख-दुख में भाग लेते हुए जीना चाहिए। वरात्ज दंपती ने जो दीर्घ जीवन बिताया है, उसमें उच्चाशयता और निस्वार्थता के गुण सर्वोपरि हैं और मैं सोचती हूं (एलीनर रूजवेल्ट) कि अपने इन गुणों के बल पर वे जिस प्रकार से सामुदायिक सहजीवन का निर्माण कर पाए हैं, उससे उनको बहुत उच्चकोटि का संतोष प्राप्त हुआ है।' एलीनर रूजवेल्ट आगे कहती हैं कि—'युसुफ वरात्ज ने जो वृत्तांत प्रस्तुत किया है, वह अत्यंत विचारोत्तेजक एवं उपयोगी है, क्योंकि इसका संबंध कुछ ऐसी बातों से है, जो मानव-जीवन को इस पृथ्वी पर और ऊपर की ओर ले जा सकता है।'

भारत के लिए यह वर्ष अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भगवान महावीर की 2600वीं जयंती का वर्ष है। इस निमित्त यह संकल्प भी प्रकट किया गया है कि भगवान महावीर के सिद्धांतों पर अवलंबित 2600 आदर्श गांवों का निर्माण किया जाए। अनेक जन और संस्थाएं इस दिशा में सक्रिय हुए होंगे। इजराइल के सहजीवी गांव के प्रयोग सन् 1910 में शुरू हुए और सन् 1960 तक यह संख्या 225 हो गई। हमें 'सहजीवी गांव' के प्रयोग को समझना चाहिए। भारत के लिए बेशक यह नई बात न हो, आज भी 'स्वाध्याय समाज' (पांडुरंग शास्त्री आठवले) वृहत्तर स्तर पर यह सब कर रहे हैं। महात्मा गांधी और विनोबा की 'ग्राम-स्वराज' की कल्पना, आचार्यश्री तुलसी व आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की 'अणुव्रत ग्राम' व 'विसर्जन' की अवधारणा में लगभग वही बातें हैं जो इजराइल के 'सहजीवी गांव' के प्रयोग से सिद्ध हुई हैं। तात्पर्य यह कि दृष्टि और दर्शन हमारे सम्मुख विद्यमान हैं—हमें क्रियान्वयन और व्यवहार की कसौटी पर उसे खरा उतारना है। समाज के अग्रजों, दिशा-बोधकों और प्रेरणा-पुरुषों को इस पर विचार करना चाहिए।

हमारी संपन्नता और दरिद्रता का मूल्यांकन इस बात में निहित है कि हमारी संपन्नता सामाजिक सरोकारों में निबद्ध है या कि 'संकुचित गृहस्थी के संकीर्ण दायरे में' ही फंसी पड़ी है। हम अपने को इस कसौटी पर तौलें।

— शुभू पटवा

कीर्तिशेष रामपुरियाजी

जैन भारती के पूर्व प्रधान संपादक (सन् 1941 से 1954, सन् 1956 से 1989 व सन् 1990 से 1996) कीर्तिशेष श्रीचंदजी रामपुरिया के अवदान हर क्षेत्र में मूल्यवान रहे हैं, लेकिन जैन भारती के लिए उनकी सेवाएं सर्वाधिक रहीं, इसलिए सदेह उनका न होना 'जैन भारती' के लिए अपूरणीय क्षति है। कोलकाता में इसी वर्ष जुलाई के आखिरी सप्ताह में उन्होंने प्राण त्याग दिए। तेरापंथ धर्म संघ के लिए तो उनका योगदान बहुआयामी रहा ही, समग्र समाज के लिए भी उनका विशिष्ट योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। जैन भारती के लिए समय-समय पर उनका परामर्श अत्यंत उत्साहजनक रहता था। हमारे मध्य इस रूप में अब उनका अभाव एक तरह से निजी क्षति है। उनका कर्तृत्व और कीर्ति ही अब हमारी थाती है और वही संबल। उन्हें विनम्र प्रणाम !

—संपादक

विमर्श

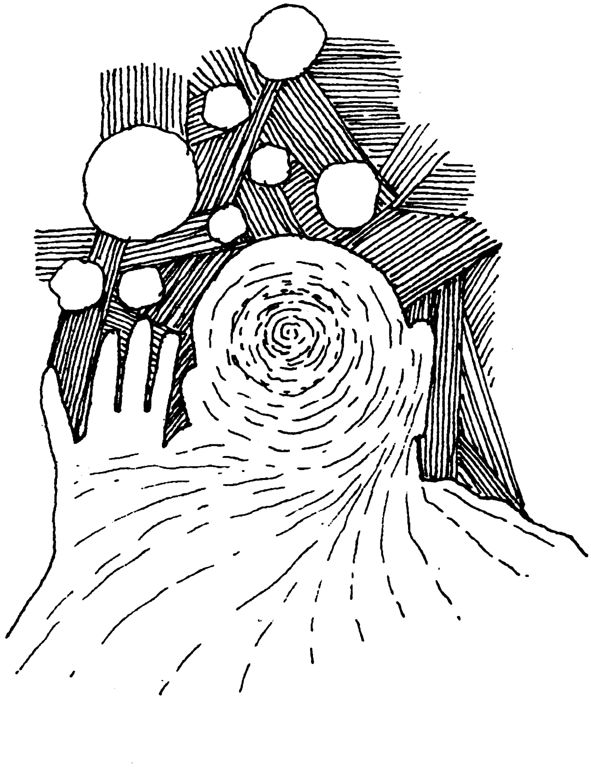

'कोई भी पिछली सभ्यता कभी भी ऐसा न कर सकी कि अपनी राह बदल ले और अपनी प्रारंभिक दिशा में अधिकतम कौशल से सभी दिशाओं में संपूर्ण कौशल में बदलाव करे। संपूर्ण कौशल प्राप्त करने के लिए एक सभ्यता को संपूर्ण मानवता और संपूर्ण व्यक्ति के लिए योग्य होना होगा। पिछली मानव सभ्यताएं इन दोनों ही में विकसित होने में असमर्थ रहीं। उनमें से प्रत्येक ने अपने ही लोगों के लिए संपूर्ण कौशल प्राप्त करने का प्रयत्न किया ताकि वह सभ्यता और उसके वाहक बाहरी दुनिया से विरोध करके उस पर अपना प्रभाव डाल सकें। इस कौशल की प्रकृति और रूप बराबर बदलते रहे लेकिन उस सभ्यता के विशिष्ट लोगों और बाहरी दुनिया के बीच कटघरे समाप्त न हो सके और इसलिए शक्ति और समृद्धि के क्षेत्रीय बदलाव के स्थान पर अपेक्षाकृत समान सुविधाओं का एक संसार भी न बनाया जा सका। इसी प्रकार, किसी भी मानवी सभ्यता में व्यक्ति के विकास की संभावनाएं उसी हद तक रहीं जिस हद तक समूह विशेष के अधिकतम कौशल के लिए आवश्यक थीं। ऐसी प्रतिभाओं और अंतर्दृष्टियों का जो किसी विशेष सभ्यता के कौशल के लिए अनावश्यक थीं, साधारणतया कोई प्रयोग नहीं हुआ। इसलिए व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कभी नहीं हुआ। व्यक्तित्व के एक या दूसरे भाग का अधिकतम विकास संभवतः हुआ हो परंतु संपूर्ण अंगों को कभी नहीं छुआ गया। वर्तमान सभ्यता और इसके भविष्य का संपूर्ण कौशल की इन दो पद्धतियों द्वारा अवश्य ही परीक्षण करना होगा।'

—डॉ. राममनोहर लोहिया

शिक्षक दिवस पर विशेष-1

शिक्षा : तेजस्विनावधीतमस्तु

डॉ. विष्णुकांत शास्त्री

प्रायः कहा जाता है कि एक समय था जब भारत को जगद्गुरु की उपाधि प्राप्त थी और हमारे विश्वविद्यालय में, तक्षशिला में, नालंदा में, विक्रमशिला विश्वविद्यालय या दूसरे विश्वविद्यालयों में या और दूसरे विश्वविद्यालयों में विदेशों से भी बड़े-बड़े विद्वान शिक्षा ग्रहण करने के लिए आते थे। बाद में ऐतिहासिक विपर्यय के कारण हमारी स्थिति में परिवर्तन हुआ और हमारी शिक्षा का विकास क्रम अवरुद्ध-सा हो गया। 1857 में अंग्रेजों ने लंदन विश्वविद्यालय की स्थापना की। उसकी स्थापना के पीछे एक कूट योजना भी थी। मैकाले ने जो टिप्पणी (मिनट) लिखी थी उसमें उन्होंने बताया था कि अगर हम अंग्रेजी माध्यम से भारत के विद्वानों को प्रशिक्षित करने का प्रयास करें तो एक दिन ऐसा आएगा कि वे केवल रंग में भारतीय रह जाएंगे। अपने चिंतन में, व्यवहार में वे हमारा अनुकरण करने की चेष्टा करेंगे। उनकी यह चेष्टा थी कि वे अंग्रेजी के माध्यम से शिक्षा देकर भारतीयों को मुख्यतः क्लर्क बनाने के लिए तैयार करें। हमारे उस समय के पुरखों ने इसकी तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएं कीं। कुछ लोग थे जो बिल्कुल अंग्रेजीदां हो गए, अंग्रेजों की नकल में अंग्रेज बनने की चेष्टा करने लगे। यदि उनका नाम था रतन दे तो वे अपने को लिखते थे, डी. रैटन और अगर उनका नाम था आशुतोष तो अपने को लिखते थे ए. टोष यानी अपने नाम में, अपने व्यवहार में वे अंग्रेजों के अधिकाधिक अनुकरण के द्वारा अपने को अंग्रेज साबित करने की चेष्टा करते थे। निश्चय ही यह रास्ता भारत के लिए स्वाभिमान का रास्ता नहीं था। कुछ ऐसे विद्वान भी थे, जिन्होंने पश्चिमी शिक्षा का बहिष्कार करना चाहा और उसके द्वारा अपने पुरातन जीवन मूल्यों से चिपके रहने का प्रयास किया। निश्चय ही यह रास्ता भी सही नहीं था, क्योंकि ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में हम केवल भौगोलिक सीमा के आधार पर जानने या न जानने का निर्णय नहीं कर सकते। हमारे ही वेद की उक्ति है : 'आ न भद्राः क्रतवो यन्तु विश्वतः।' अर्थात् सब दिशाओं से मिले शुभ ज्ञान।

हमें विचार करना चाहिए कि अपने देश की परंपरा से जुड़े रहकर कैसे हम आधुनिक हो सकते हैं? कैसे हम वास्तव में अपनी उस वैदिक उक्ति को चरितार्थ कर सकते हैं? विश्वविद्यालय का मतलब होता है 'यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म्' जहां सारा संसार एक घोंसला बन जाए। सारे संसार के विद्वान जहां आ सकें और जिसकी दृष्टि क्षेत्रीय न हो, जिसकी दृष्टि संकीर्ण न हो, जिसकी दृष्टि के सामने सारा विश्व हो। विश्व मानवता को स्वीकार करते हुए अपने देश की राष्ट्रीयता, अपने देश का सर्वतोमुखी विकास करने के लिए अपने को समर्पित करने की दृष्टि हममें कैसे विकसित हो—यही हमारे अध्यापकों के, हमारे विद्यार्थियों के, हमारे शोधर्थियों के चिंतन का विषय होना चाहिए और इस दिशा में हमको अग्रसर होना चाहिए।

जो शुभ ज्ञान है वह किसी भी देश से क्यों न आए, हमको स्वीकार करना चाहिए। हमारे पुरखों की एक तीसरी श्रेणी थी, जिसने अंधानुकरण करने से भी इंकार किया और पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान के उज्ज्वल पक्ष का बहिष्कार करने से भी इंकार किया। उन्होंने राष्ट्रीय चेतना के विकास का मार्ग प्रशस्त किया। यह जो तीसरा मार्ग है, इस तीसरे मार्ग को आज तक हम उचित मानते हैं, क्योंकि यह सही रास्ता है। हम यह मानते हैं कि हम अपने पुराने ज्ञान-विज्ञान को आज के युग में स्वीकार करें तो उसको हम युगानुकूल बनाएं। प्राचीन परंपरा को युगानुकूल बनाकर और विदेशी शैली से ली गई ज्ञान-राशि को अपने देश के अनुकूल बनाकर हम अपने विकास के रास्ते पर चल सकते हैं। विकास और शिक्षा इन दोनों का अन्योन्याश्रित संबंध है। अगर हम शिक्षा के क्षेत्र में पीछे रहेंगे तो हम विकास के क्षेत्र में भी आगे नहीं बढ़ सकते। हमारे देश की आज की स्थिति बहुत प्रशंसनीय नहीं है।

आज भी हमारे देश की बहुत बड़ी जनसंख्या निरक्षर है। आज भी हमारे देश में बहुत बड़ी संख्या प्राथमिक शिक्षा के स्तर से ऊपर नहीं उठ पाई है। बहुत कम लोग उच्चतर शिक्षा प्राप्त कर सके हैं। उनके ऊपर कितना बड़ा उत्तरदायित्व है—सारे देश के पुनर्निर्माण का, सारे देश के राष्ट्रीय विकास का, इस बात को हमको अनुभव करना चाहिए।

हमें इस बात को समझना चाहिए कि आखिर वे कौन-से गुण हैं जिन गुणों ने हमारे देश को जगद्गुरु बनाया था और उन गुणों को हम आज किस रूप में स्वीकार कर सकते हैं। हमें विचार करना चाहिए कि अपने देश की परंपरा से जुड़े रहकर कैसे हम आधुनिक हो सकते हैं? कैसे हम वास्तव में अपनी उस वैदिक उक्ति को चरितार्थ कर सकते हैं? विश्वविद्यालय का मतलब होता है 'यत्र विश्वं भवत्येक नीड़म्' जहां सारा संसार एक घोंसला बन जाए। सारे संसार के विद्वान जहां आ सकें और जिसकी दृष्टि क्षेत्रीय न हो, जिसकी दृष्टि संकीर्ण न हो, जिसकी दृष्टि के सामने सारा विश्व हो। विश्व मानवता को स्वीकार करते हुए अपने देश की राष्ट्रीयता, अपने देश का सर्वतोमुखी विकास करने के लिए अपने को समर्पित करने की दृष्टि हममें कैसे विकसित हो—यही हमारे अध्यापकों के, हमारे विद्यार्थियों के, हमारे शोधार्थियों के चिंतन का विषय होना चाहिए और इस दिशा में हमको अग्रसर होना चाहिए।

मैं यह मानता हूं कि अपने कार्य के प्रति गौरव-बोध हमें किसी काम को भली-भांति संपन्न करने की प्रेरणा देता है। जब हम जगद्गुरु थे तो हमने अध्ययन-अध्यापन के कार्य को किस रूप में देखा था? उस समय की स्थिति यह थी कि हमने इस कार्य को तपस्या के रूप में देखा था। हमारी मान्यता थी : 'छात्राणां अध्ययनं तपः', यह कथन इस बात को साबित करता है कि अध्ययन-अध्यापन को हमने उच्चतर भूमिका पर प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा की थी। हमारी दृष्टि केवल अर्थकरी विद्या प्राप्त करने की नहीं थी। हमारा तत्कालीन अध्यापक सगौरव कहता था : 'नाहं विद्या-विक्रयं शासनशतेनापि करोमि।' सैकड़ों शासन का अधिकार होने पर भी मैं विद्या विक्रय नहीं करूंगा।

प्रसिद्ध साहित्यकार और शिक्षाविद् पं. विष्णुकांत शास्त्री कोलकाता विश्वविद्यालय में अध्यापन जैसे महती दायित्व का निर्वहन कर चुके हैं और वर्तमान में देश के सबसे बड़े व प्रमुख प्रदेश उत्तरप्रदेश के राज्यपाल पद को विभूषित कर रहे हैं।

यह दृष्टि हमारे अध्यापकों की दृष्टि थी। अच्छा अध्यापक कौन होता है? अच्छा अध्यापक वही होता है जो आजीवन छात्र रहे। जब तक सांस चलती रहे तब तक सीखने की प्रवृत्ति अगर बनी रहेगी तब हम अच्छे अध्यापक हो सकेंगे। आधुनिक युग के महान उपदेशक, महान गुरु श्री रामकृष्ण परमहंस देव ने कहा था, 'जतो दिन बांची ततो दिन शीखी' (जितने दिन जीऊंगा उतने दिन सीखूंगा)। यह लगातार सीखते रहने की जो परंपरा है, यह परंपरा विद्या के क्षेत्र को उन्नत मान देती है। कैसे हम विद्या को प्राप्त करें? शिक्षा का मतलब क्या होता है? 'शिक्षा विद्योपादाने', शिक्षा का मतलब होता है विद्या देने की प्रक्रिया। 'शिक्षते उपदीयते विद्या यया सा शिक्षा', शिक्षा वह जिससे विद्या-प्रदान की जाती है। हमारे देश में विद्या के दो भाग किए गए हैं। एक पराविद्या, एक अपराविद्या। पराविद्या का मतलब है—परमात्म विद्या, अध्यात्म विद्या और अपराविद्या—मानी लौकिक विषयों की विद्या। इन दोनों प्रकार की विद्याओं के अर्जन को तपस्या की संज्ञा दी गई है। एक बार ऋषियों से एक प्रश्न पूछा गया कि सबसे बड़ा तप कौनसा है? ऋषियों में एक नाकोमौद्गल्य ऋषि थे, उन्होंने कहा :

स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाकोमौद्गल्यः
तद्धितपस् तद्धितपः तद्धितपस् तद्धितपः।।

विभिन्न ऋषियों ने अलग-अलग तप बताए, लेकिन नाकोमौद्गल्य ने कहा कि सबसे बड़ा तप है स्वाध्याय करना और प्रवचन करना। सभी ऋषियों ने अपनी सहमति ज्ञापित करते हुए कहा, 'हां वही तप है, वही तप है। यही अच्छे शिक्षक का धर्म है। स्वाध्याय जितना उत्तम होगा प्रवचन उतना उत्कृष्ट होगा।' इसलिए तैत्तिरीय उपनिषद ने आदेश दिया, 'स्वाध्यायन्मा प्रमदः', स्वाध्याय से यानी अच्छे ग्रंथों के निरंतर अनुशीलन से कभी प्रमाद मत करना। जो भी अध्यापक होगा वह अगर तपस्या करना चाहता है तो उसको निरंतर स्वाध्याय करना होगा और जितना अधिक स्वाध्याय वह कर सकेगा, उसका प्रवचन उतना प्रामाणिक होगा। कालिदास ने शिक्षकों की एक अद्भुत शृंखला बताई है कि बड़ा शिक्षक कौन है, धुरिप्रतिष्ठा का अधिकारी शिक्षक कौन है? उन्होंने कहा :

श्लिष्टा क्रिया कस्याचिदात्मसंस्था,
संक्रान्तिरन्यस्य विशेष युक्ता।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां,
धुरिप्रतिष्ठापयित्व एव।।

अर्थात् कुछ विद्वान होते हैं जो ज्ञान तो बहुत अर्जित कर लेते हैं, लेकिन ज्ञान का संक्रमण करने में, अपने विद्यार्थियों को ज्ञान दे पाने में वे कुशल नहीं होते। संक्रांति की विद्या से वे रहित होते हैं। कुछ विद्वान होते हैं जो संक्रमण में तो बहुत कुशल होते हैं, जितना जानते हैं उतना दूसरों को सिखा देते हैं लेकिन वे जानते ही कम हैं।

ये दोनों प्रकार के विद्वान धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी नहीं है।

यस्योभयं साधु स शिक्षकाणां,
धुरिप्रतिष्ठापयितव्य एव।।

जिसमें ये दोनों गुण हों अर्थात् वह स्वयं ज्ञानी भी हो, और ज्ञान के संक्रमण की कला में भी कुशल हो वही विद्वान धुरिप्रतिष्ठा का, वास्तविक प्रतिष्ठा का अधिकारी होता है। हमारे देश में धुरिप्रतिष्ठा के अधिकारी विद्वान थे। वे जब शिक्षा देते थे, तब हमारे विद्यार्थी आगे बढ़ते थे। आज भी हमारे देश में बहुत से ऐसे धुरिप्रतिष्ठा को प्राप्त करने की ओर अग्रसर हो—शिक्षक का यही आदर्श था। आज यह बात आश्चर्यजनक लग सकती है, लेकिन हमारे देश का आदर्श शिक्षक डंके की चोट पर अपने विद्यार्थियों से कहता था : यान्यस्माकं सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि। हमारे देश का शिक्षक कहता था, 'जो हमारा सुचरित है—विद्यार्थियो! केवल उस सुचरित का तुम अनुगमन करना। जो सुचरित से भिन्न है उसका अनुगमन मत करना।'

हमारे देश के शिक्षक की अद्‌भुत दृष्टि थी। वह कहता था, 'सर्वत्र जयमन्विच्छत् पुत्रात् शिष्यात् पराजयम्।' मनुष्य को सर्वत्र विजय की कामना करनी चाहिए, लेकिन मेरा पुत्र मुझको हरा दे, मेरा विद्यार्थी मुझको हरा दे, यह कामना भी भारत का शिक्षक करता था। अगर मेरा विद्यार्थी मुझको पराजित करेगा तो कैसे पराजित करेगा? ज्ञान की सीमा को जहां तक मैंने बढ़ाया है जब उससे आगे वह बढ़ा के ले जाएगा—तब मेरी बात में वह कहीं खोट निकालेगा और उसको दूर करेगा। जब मुझसे भी ज्यादा वह ज्ञानी हो जाएगा—तब मुझे पराजित करेगा। अगर कोई शिष्य किसी गुरु को अपने ज्ञान से पराजित करता है तो गुरु की छाती फूल जाती है। हमारे आदर्श गुरु की चेष्टा होती थी कि हमारे शिष्य हम से भी योग्य बन जाएं—यह नहीं कि हम अपने शिष्यों को दबाते रहें।

हमारे देश में कहा गया है कि—दो प्रकार के गुरु होते हैं। एक प्रकार का गुरु होता है—आकाशधर्मी गुरु और दूसरे प्रकार का गुरु होता है—शिलाधर्मी गुरु। शिलाधर्मी गुरु कैसा होता है? आप लोगों ने मैदानों में देखा होगा कि हरी घास के ऊपर अगर कोई एक ईंट रख दे, एक शिला रख दे और एक महीने के बाद उस ईंट को हटाए तो दिखेगा कि ईंट से दबी घास पीली पड़ गई, निस्तेज हो गई, विकलांग हो गई। जो गुरु शिलाधर्मी गुरु के रूप में अपने विद्यार्थियों पर लद जाए और कहे कि मैं जो कहता हूं वही तुमको मानना पड़ेगा, वही सत्य है, तो वह अपने विद्यार्थियों का विकास नहीं कर सकता। शिलाधर्मी गुरु हमारे यहां त्याज्य, हमारे यहां निंद्य माना जाता है। हमारे यहां जिस आदर्श गुरु की कल्पना की गई है—उस गुरु की संज्ञा आकाशधर्मी है। आकाशधर्मी गुरु कैसा होता है? आकाश चाहता है कि उसके नीचे जो वनस्पतियां हैं वे विकसित हों, जिनकी जितनी क्षमता हो—वह उतनी विकसित हो। घास की उगने की क्षमता प्रायः सतह तक है और देवदारु की उगने की क्षमता बहुत ऊंची है, बरगद बहुत फैल सकता है। आकाशधर्मी गुरु प्रत्येक शिष्य को प्रकाश देता है, प्रत्येक शिष्य को वायु देता है, प्रत्येक शिष्य को अवकाश देता है, बढ़ने का, ताकि जिसकी जितनी क्षमता है—वह उतनी विकसित भूमिका को अर्जित कर सके। यह आकाशधर्मी गुरु का लक्षण है। आकाशधर्मी गुरु शिष्य की क्षमता को पहचानता है। जैसे चिकित्सा रोग की नहीं की जाती, रोगी की की जाती है, वैसे ही विद्या विद्या के लिए नहीं दी जाती है, विद्या व्यक्ति को दी जाती है—उस की जो क्षमता है, उस व्यक्ति के जो विशेष गुण हैं, उन विशेष गुणों को कैसे विकसित किया जाए—यह कुशलता जिस गुरु में होती है उसको आकाशधर्मी गुरु कहते हैं। आज भी अगर भारतवर्ष बड़ा होगा तो इन्हीं आकाशधर्मी गुरुओं के द्वारा होगा, जो अपने शिष्यों से मतभेद की चिंता किए बिना उनको सही रास्ता बताते हुए उनकी प्रवृत्ति के अनुसार उनके विकास की सुविधा देते रहेंगे। शिष्यों की क्षमता के अनुसार उनके विकास की दिशा बताने वाला आकाशधर्मी गुरु हमारा आदर्श होना चाहिए।

हम अध्यापकगण यदि आकाशधर्मी गुरु के रूप में जीवन जीएं, तब हम अपने शिष्यों को भी अपनी भूमिका पर ला सकेंगे। हमारे कबीरदासजी ने कहा है—पारस में और गुरु में बहुत अंतर होता है। पारस पत्थर लोहे को सोना बना सकता है, लेकिन गुरु—आकाशधर्मी गुरु शिष्य को भी आकाशधर्मी गुरु बना सकता है। गुरु की वास्तविक

सफलता शिष्य की श्रद्धा अर्जित करने में है। एक बढ़िया श्लोक है : बहवः गुरवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकः। दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः।।

ऐसे तो गुरु बहुत हैं जो शिष्यों के वित्त का, अर्थ का अपहरण कर लेते हैं। आजकल हम लोग फीस लेते ही हैं, प्रायः हर विद्यार्थी को फीस देनी पड़ती है तो वित्त का अपहरण करने वाली शिक्षा संस्थाएं और गुरु बहुत हैं। 'दुर्लभः स गुरुर्लोके शिष्यचित्तापहारकः', किंतु वैसा गुरु दुर्लभ है, इस लोक में, जो शिष्य के चित्त का अपहरण कर सके, जो शिष्य की श्रद्धा अर्जित कर सके। शिष्य श्रद्धेय के रूप में किसी गुरु को क्या केवल इसलिए स्वीकार कर लेगा कि वह अध्यापक है, वह प्रोफेसर है? ऐसा नहीं होता। केवल पद से सम्मान प्राप्त नहीं होता। शिक्षक में कुछ वैशिष्ट्य होना चाहिए, जिससे शिष्य के मन में श्रद्धा उत्पन्न हो और वह वैशिष्ट्य होना जब तक हमारा शिक्षक वर्ग अर्जित करता रहेगा, तब तक विद्यार्थी आगे बढ़ते रहेंगे।

हमको इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि अध्यापक के समान ही शिष्य का क्या स्वरूपभूत लक्षण होना चाहिए? शिष्य कैसे ज्ञान प्राप्त करे, इसके बारे में गीता में दो बहुत अच्छी उक्तियां कही गई हैं : तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

शिष्य का आधारभूत लक्षण है ज्ञान प्राप्त करने के लिए अग्रणी होना। शिष्य ज्ञान प्राप्त कर सके, इसके लिए उनको परिप्रश्न करने का अधिकार मिलना चाहिए। परिप्रश्न मानी बार-बार प्रश्न, परिप्रश्न मानी चारों तरफ से प्रश्न, परिप्रश्न मानी जब तक विषय समझ में न आए तब तक प्रश्न करने का अधिकार शिष्यों का है, इसकी स्वीकृति लेकर परिप्रश्न को संपुटित किया गया है। प्रणिपात यानी विनम्रतापूर्वक नमस्कार और सेवा के द्वारा। विद्यार्थी अध्यापक से प्रश्न करने के अधिकारी हैं, अगर सचमुच उस विषय को वे जानने, समझने की इच्छा रखते हैं, किंतु उस विषय का ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन्हें विनम्र होना चाहिए। इस संदर्भ में भी एक अच्छी उक्ति : पैये असीस लचैसे जो सीस, लची रहिये तब ऊंची कहैये।

जब तक विद्यार्थी का सिर श्रद्धा से झुकता नहीं है गुरु के सामने, तब तक वह विद्या अर्जित नहीं कर सकता। साथ ही हमें निश्छल सेवा के द्वारा गुरु को प्रसन्न भी करना चाहिए। इस प्रकार सेवा और प्रणिपात के द्वारा हम अनेकानेक प्रश्न करने का अधिकार प्राप्त कर सकते हैं। एक और बात है—एक उक्ति बहुत बार उद्धृत की जाती है : 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्' श्रद्धावान को ज्ञान प्राप्त होता है, लेकिन इतनी ही बात आधी बात है। पूरी उक्ति है गीता की : श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

उस व्यक्ति को ज्ञान प्राप्त होता है जो अपने गुरु एवं विषय के प्रति श्रद्धा तो रखता ही है साथ ही उसको अर्जित करने के लिए तत्पर है, जुटा हुआ है, उसी के प्रति समर्पित है। दूसरी उसका ध्यान ही नहीं जाता। दूसरी ओर उसका ध्यान जाए इसके लिए उसको संयतेंद्रिय होना चाहिए, अपनी इंद्रियों पर संयम करना चाहिए। अपनी इंद्रियों पर संयम करके जब हम अपना पूरा ध्यान अपने अध्येतव्य विषय की ओर लगाएंगे, तब हम श्रद्धा के द्वारा ज्ञान अर्जित कर सकेंगे। विद्यार्थियों के लिए एक बहुत अच्छा श्लोक है, याज्ञवल्क्यीय शिक्षा का। उसका अभिप्राय यह है कि हम अपनी भूमिका को सतत नापते रहें कि हम कहां खड़े हैं? विद्या-बुद्धि की कौन-सी भूमिका है, जिस पर अभी हम खड़े हैं और जिससे अग्रसर होना चाहते हैं, उच्चतर भूमिका पर जाना चाहते हैं? वह अद्‌भुत श्लोक है :

शुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धी गुणाः।।

धी मानी बुद्धि। बुद्धि के सात गुण हैं—अर्थात् बुद्धि की सात भूमिकाएं हैं। हम सब विचार करें कि हम किस भूमिका पर खड़े हैं? बुद्धि की पहली भूमिका है शुश्रुषा। शुश्रुषा मानी श्रोतुमिच्छा। श्रोतुमिच्छा मानी जानने की इच्छा—सुनने की इच्छा। पुराकाल का यह श्लोक है। पुराकाल में तो छपी हुई किताबें नहीं होती थीं, हस्तलिखित ग्रंथ होते थे, उनकी संख्या भी बहुत कम थी। इसलिए गुरु के निकट जाकर पूछा जाता था। कोई बात जानने की इच्छा हुई तो उसे कहते थे शुश्रुषा। सुनने की, जानने की इच्छा यदि इच्छा के स्तर पर ही रुक गई तो समझिए कि बुद्धि बहुत मंद है। शुश्रुषा श्रवणं चैव। बुद्धि की दूसरी भूमिका है—जानने की चेष्टा, जानने की क्रिया। श्रवणम् का मतलब हुआ कि अपनी जिज्ञासा को लेकर, अपने प्रश्न को लेकर किसी योग्य अधिकारी गुरु के पास गए, उनसे विनम्रतापूर्वक प्रश्न किया और उन्होंने जो उत्तर दिया, जो उन्होंने समझाया, उसको सुना। श्रवणम् का मतलब हुआ जानने की, ज्ञान अर्जित करने की चेष्टा। आज हमारे मन में शुश्रुषा हो तो हम 'इनसाइक्लोपीडिया' से समझ सकते हैं, हम 'इंटरनेट' से समझ सकते हैं, लेकिन आधारभूत बात यह है कि जानने कि इच्छा होनी चाहिए और जानने की इच्छा के बाद जानने की क्रिया होनी चाहिए। श्रवणम् मानी जानने की क्रिया। जानने के लिए अध्यापक के पास गए, आपने अपने अध्यापक से सवाल किया, उनका बताया

हुआ उत्तर सुना, लेकिन समझ नहीं आया तो मतबल हुआ कि बुद्धि मंद है। बुद्धि की तीसरी भूमिका है— ग्रहणम्। जो कुछ आपको बताया गया वह आपकी समझ में आना चाहिए। वह आपको समझ में आया कि नहीं, अगर समझ में आया तो आप बुद्धि की तीसरी भूमिका पर हैं और समझ में नहीं आया तो आपकी बुद्धि मंद है। बुद्धि की चौथी भूमिका है—धारणम्। आपने किसी विद्वान का व्याख्यान सुना, घर में आकर कहा, आज का व्याख्यान बहुत अच्छा था। किसी ने पूछा—'क्या कहा गया था—व्याख्यान में ?' उत्तर दिया—'भाई, यह तो याद नहीं।' तो यह बुद्धि की चौथी भूमिका है—धारणम् अर्थात् जो हमने सुना उसको हमने धारण किया कि नहीं किया? हमको बुद्धि की चौथी भूमिका पर जाना चाहिए कि जो हम पढ़ें उसको स्मरण रख सकें, धारण कर सकें। ऊहापोहार्थविज्ञानम्। गंगा गए गंगादास, यमुना गए यमुनादास—ऐसा नहीं होना चाहिए। इन्होंने कहा यह भी सही, उन्होंने कहा वह भी सही—ऐसा नहीं होना चाहिए। जो विषय सुना है, जो विषय समझा है या जो विषय पढ़ा है उसके ऊपर ऊहापोह किया कि नहीं, विचार किया कि नहीं, वह सही है तो क्यों सही है, वह गलत है तो क्यों गलत है? यह जो सही और गलत के बारे में विश्लेषण करना, वितर्क करना, विवेचन करना है—यह बुद्धि की पांचवीं भूमिका है। अंध श्रद्धा की बात भारतीय दृष्टि में नहीं है। ऊहापोह करना चाहिए, विचार करना चाहिए और विचार करने के बाद जो सही लगे उसे स्वीकार करना चाहिए, जो गलत लगे उसे छोड़ देना चाहिए और जो कुछ सीखा है उस सीखे हुए को काम में लाना चाहिए। अर्थविज्ञानम्—यह बुद्धि की छठी भूमिका है। जो भी हमने सीखा है, जो हमने ज्ञान प्राप्त किया है वह अगर काम में नहीं आया तो किस काम का? मीमांसा का सूत्र है, 'सर्वमपि ज्ञानं कर्मपरम्'—अर्थात् सीखा हुआ ज्ञान हमसे ठीक-ठीक काम करवाए। वेदांत ने इसमें एक अपवाद बताया है, 'ऋते आत्मज्ञानात्'—अर्थात् आत्मज्ञान को छोड़कर—आत्मज्ञान के बाद कर्म अनिवार्य नहीं रहता। किंतु अभी तो हम लौकिक ज्ञान की बात कर रहे हैं। तो अर्थ विज्ञानम्—अर्थात् ज्ञान का उपयोग हो। जैसे कोई अनुसंधान हुआ तो उस अनुसंधान के द्वारा, विविध तकनीकों के द्वारा हम कैसे यंत्र बना सकते हैं, कैसे समस्याओं का समाधान करने में उनका उपयोग कर सकते हैं—यह अर्थ विज्ञान आना चाहिए। यह बुद्धि की छठी भूमिका है। तत्त्वज्ञानं च धी गुणाः और तत्त्वतः किसी विषय को समझ लेना उस विषय को पूर्णतः समझ लेना है, जैसे मिट्टी को तत्त्वतः समझ लिया तो मिट्टी से बनी हुई सब चीजों को समझ लिया, सोने को तत्त्वतः समझ लिया तो सोने से बनी हुई सब चीजों को समझ लिया। किसी चीज का तात्त्विक ज्ञान प्राप्त कर लेना उस विषय की समझदारी की सातवीं भूमिका है। हमारे विद्यार्थियों को सातवीं भूमिका तक जाने की तैयारी करनी चाहिए।

बड़ा काम कैसे होता है? बड़ा काम केवल इच्छा से नहीं होता। बड़ा काम उस बड़ी इच्छा को पूर्ण करने के लिए अपने जीवन को होम देने से होता है। जीवन की सारी शक्तियों को एकाग्र करके अपने विषय को उपलब्ध करने के लिए जब हम अपने आपको समर्पित कर देंगे तब बड़ा काम कर सकेंगे।

अनुसंधान या शोध कार्य के लिए भी यह स्थापना सत्य है। ज्ञान का प्रदर्शन कर सस्ती वाहवाही लूट लेना अलग बात है और किसी विषय की तह में जाकर उसकी उलझी हुई गुत्थियों को सुलझाना—उस विषय के ज्ञान को आगे बढ़ाना, बिल्कुल दूसरी बात है। नवीन शोधों के द्वारा ज्ञान की समृद्धि कौन कर सकता है, कैसे कर सकता है? इस पर एक बहुत ही अच्छा श्लोक है :

> तरन्तो दृश्यन्ते बहव इह गंभीर सरसि,
> सुसाराभ्यां दोर्भ्यां हृदि विदधतः कौतुकशतम्।
> प्रविश्यान्तर्लीनं किमपि सुविविच्योद्धरति यश्,
> चिरं रुद्धश्वासः स खलु पुनरेतेषु विरलः।।

अर्थात् इस गहरे और विशाल ज्ञान-सरोवर में तैरते हुए बहुत से तैराक अपनी पुष्ट भुजाओं से नाना प्रकार के कौतुक करते हुए दीख पड़ते हैं, किंतु इन सबमें वह (विद्वान) विरला ही है जो देर तक सांस रोककर, गहरे डूबकर गंभीर विवेचन के बाद किसी दुर्लभ रत्न का उद्धार कर लाता है। आत्मप्रदर्शन विमुख, गंभीर, निष्ठापूर्ण, ऐकांतिक वस्तुनिष्ठ विद्या-साधना ही मौलिक शोधपरक उपलब्धि का आधार है—यह सत्य इस श्लोक में बहुत अच्छी तरह निरूपित किया गया है। अभिनवगुप्त ने अपूर्व वस्तु का निर्माण करने में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है, 'अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा प्रतिभा'। हमारे शोधार्थी प्रतिभाशाली हों और नई-नई शोधों, नए-नए आविष्कारों द्वारा ज्ञान की परिधि को बढ़ाते रहें।

हमारी परंपरा यह भी मानती है कि अपनी मान्यताओं की हमें बार-बार जांच-पड़ताल करनी चाहिए। इसके लिए सही रास्ता है, विद्वानों से विचार-विमर्श करते रहना। 'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः' इस दिशा में हमारा मार्ग निर्देशक सूत्र है। कई बार ऊंचा पद प्राप्त कर लेने के बाद प्राध्यापकगण विचार-विमर्श से कतराने लगते हैं। उन्हें लगता है कि यदि उनकी बात गलत साबित हो जाएगी तो

उन्हें अपमानित होना पड़ेगा, अतः विवाद से...शास्त्रार्थ या विचार-विमर्श से वे कन्नी काटते हैं। कालिदास ने इस प्रवृत्ति की निंदा करते हुए एक मार्मिक श्लोक लिखा है :

लब्धास्पदोऽस्मीति विवादभीरोः
तितिक्षमाणस्य परेण निन्दाम्।
यस्यागमः केवल जीविकायै
तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति।।

अर्थात् सम्मानजनक पद प्राप्त हो जाने के बाद जो विवादभीरू, आत्मविश्वासहीनता के कारण दूसरों के द्वारा की गई निंदा को सहता रहता है, जिसका ज्ञान केवल जीविकोपार्जन के लिए ही होता है, वह तो ज्ञान बेचने वाला बनिया है—विद्वान नहीं। विद्वान सब समय विवाद ही करता रहे—इसका अर्थ यह भी नहीं है। इसका अभिप्राय यही है कि अपनी मान्यता, विचार की कसौटी पर खरी उतरती रहे, इसकी ओर सजग रहना चाहिए। अन्यथा विद्वत्ता तेजस्विनी नहीं हो सकती। हमारी पारंपरिक प्रार्थना यही है कि हमारा अधीत (हमारा प्राप्त किया हुआ ज्ञान) तेजस्वी हो...'तेजस्विनावधीतमस्तु'। यह तेजस्विता खंडित तभी होती है, जब हम अपना ज्ञान बेचने लगते हैं। जायसी की हृदयस्पर्शिणी उक्ति है, 'पंडित होई सो हाट न चढ़ा। चहौं बिकाइ भूमिका पढ़ा।' मेरी मंगलकामना है कि हमारे तेजस्वी विद्वान प्राध्यापक आत्मविक्रय की स्थिति से बचें। ज्ञान प्राप्त करने की तेजस्वी परम्परा यह मानती थी कि केवल एक विषय का ज्ञान रखने वाले वास्तव में ज्ञानी नहीं होते। उनकी मान्यता थी, 'एक शास्त्रं अधीयानः न किंचिदपि शास्त्रं विजानाति'—अर्थात् एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र नहीं जानता। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत-से शास्त्र जानने चाहिए, भले ही विशेषज्ञता एक शास्त्र की हो। क्योंकि सभी शास्त्र, सभी विषय परस्पर संबद्ध हैं। एक शास्त्र की ग्रंथि दूसरे शास्त्र के प्रकाश से सुलझाई जा सकती है।

अतः विद्वान को बहुश्रुत होना चाहिए। भारतीय शैक्षणिक दृष्टि यह रही है कि हम तो अपने जीवन की सार्थकता के लिए पढ़ रहे हैं, हम तो अपने जीवन में ऋषि-ऋण उतारने के लिए जो कुछ हमने बड़ों से सीखा है उसको सामान्य जनता तक पहुंचा देने के लिए काम कर रहे हैं। अतः हमारी चिंता होनी चाहिए कि कैसे हम उच्चतम ज्ञान-विज्ञान भारतीय भाषाओं में ले आएं, कैसे हम उच्चतम विद्या को निम्नतम वर्ग तक पहुंचाने की धारावाहिकता उत्पन्न करें? ❖

सुख एक कल्पित वस्तु है, जिसकी तलाश हम लोग करते हैं। अगर वह सुख प्राप्त होगा तो वह निश्चित रूप से थका देने वाला होगा। जिस प्रकार से नदी मैदानी इलाके की ओर द्रुत गति से बहती है और वहां पहुंचने पर उसकी गति धीमी और शांत हो जाती है, उसी प्रकार सुख का आविर्भाव जिस उल्लास से होता है, उस सुख की प्राप्ति के बाद वह उल्लास स्थाई नहीं रहता, उसकी गति मंद हो जाती है।

मनुष्य अपनी महत्त्वाकांक्षा में ही सुख का अनुभव करता है। जब वह अपने लक्ष्य को पहुंच जाता है, तब उसका जोश ठंडा हो जाता है और फिर दूर-देशांतर-गमन के लिए वह उत्कंठित होता है। क्या तुम ऐसे सुखी व्यक्ति से मिलना चाहोगे, जो अपनी नियति से संतुष्ट है और जनसाधारण से पृथक होकर जो शांतिपूर्ण निर्वाण की आराधना करता है?

●●

भद्रता बहुमूल्य मुक्ता से रिक्त सीपी है। मनुष्य के दो हृदय होते हैं—एक गंभीर, सुकोमल हृदय तथा दूसरा पाषाण हृदय। भद्रता ढाल है और उदारता तलवार है।

—खलील जिब्रान

शिक्षक दिवस पर विशेष-2

शिक्षा और जीवन विज्ञान

चतरसिंह मेहता

विद्या वही है जिससे भौतिक दैहिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, सामाजिक समस्याओं से मुक्ति प्राप्त हो। 'सा विद्या या विमुक्तये'—विद्या की परिभाषा यही है कि जो मुक्त करे वही विद्या। देश में विद्यालय बढ़े हैं, विश्वविद्यालय बढ़े हैं, परंतु मनुष्य मुक्त होता दिखाई नहीं पड़ता, उलटा और भी बंधता जा रहा है। सूचनाएं और जानकारियां बढ़ती जा रही हैं इसे ही हम 'ज्ञान' कह रहे हैं। जबकि दूसरी ओर मानवीयता घटती हुई मालूम हो रही है। मनुष्य की बुद्धि तो विकसित हो रही है, परंतु उसकी आत्मा टूटती हुई मालूम पड़ रही है। कहीं कोई बुनियादी भूल है। नहीं तो इतने विद्यालय और विश्वविद्यालय बढ़ने के उपरांत पहले से ज्यादा अशांति, ज्यादा दुख, ज्यादा पीड़ा नहीं होती।

हमारी वर्तमान शिक्षा प्रणाली 19वीं सदी के चौथे दशक में मैकाले की प्रसिद्ध रिपोर्ट से आरंभ होती है जिसका उद्देश्य अंग्रेजी शासन के लिए लिपिक तैयार करना था, जो उन्हें शासन चलाने में मदद दे सके। ऐसे लिपिक मन व मस्तिष्क से अंग्रेज, परंतु शरीर से भारतीय हों। कमोबेश वही प्रणाली आज भी चालू है। कुछ संरचनात्मक परिवर्तन जरूर हुए, बाहरी रूप कुछ बदला, परंतु उसकी आत्मा में खिलावट नहीं आई। अनेक विद्वान आज यह मानने लगे हैं कि आज की शिक्षा मात्र सूचनाओं का प्रेषण रह गई है, स्मरण शक्ति के परीक्षण तक सीमित हो गई है और शिक्षा की वास्तविक परिभाषा या कहें उद्देश्यों से वह बिल्कुल विमुख हो गई है।

शिक्षा की सही समझ और उसकी दिशाओं का ज्ञान हमें मनीषियों, चिंतकों और शिक्षाविदों व विभिन्न आयोगों से प्राप्त होता है। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत था कि शिक्षा का उद्देश्य आत्मा का स्वातंत्र्य और अंतिम दिशा में अग्रसर होना है, जो कि हमें धूल और कचरे से मुक्त कर संपदा प्रदान करती है—भौतिक पदार्थों की नहीं अपितु अंतर्ज्योति की, शक्ति की नहीं वरन् प्रेम की। योगीराज अरविंद के अनुसार शिक्षा का मूल उद्देश्य मनुष्य में सुप्त शक्तियों का अनावरण व विकास करना है। शारीरिक शिक्षा के बिना मानसिक शिक्षा अधूरी होती है, क्योंकि शिक्षा का उद्देश्य व्यक्ति का पूर्ण विकास है। शरीर सभी कर्मों का माध्यम है, अतः उन्होंने शिक्षा में शारीरिक शिक्षा पर पर्याप्त बल दिया।

स्वामी विवेकानन्द ने भी शिक्षा के उद्देश्यों को व्यापक रूप से स्पष्ट किया। उन्होंने कहा था, 'शिक्षा मनुष्य के भीतर निहित पूर्णता का विकास है। वह शिक्षा, जो समुदाय को जीवन संग्राम के उपयुक्त नहीं बना सकती, जो उसकी चारित्र्य शक्ति का विकास नहीं कर सकती, जो उनके मन में परहित भावना और सिंह के समान साहस पैदा नहीं कर सकती, क्या हम उसे शिक्षा नाम दे सकते हैं?' उनका कहना था—'शिक्षा उस जानकारी का नाम नहीं है जो तुम्हारे मस्तिष्क में भर दी गई है और वहां पड़े-पड़े तुम्हारे सारे जीवन भर बिना पचाए सड़ रही है। हमें तो भावों या विचारों को ऐसे आत्मसात कर लेना चाहिए जिससे मनुष्यत्व आए और चरित्र का गठन हो। यदि शिक्षा और जानकारी एक ही वस्तु होती तो पुस्तकालय संसार के सबसे बड़े संत और विश्वकोश ऋषि बन जाते।'

राष्ट्रीय अध्यापक शिक्षा परिषद्** (भारत सरकार का सांविधिक संगठन) **की उत्तर क्षेत्रीय समिति के पूर्व अध्यक्ष श्री चतरसिंह मेहता राजस्थान के जाने-माने शिक्षा-विचारक हैं। राजस्थान के प्रौढ़ एवं सतत शिक्षा निदेशक के पद पर कार्य कर चुके श्री मेहता वर्तमान में शिक्षा-संस्कृति से जुड़े कई स्वैच्छिक संगठनों से संबद्ध हैं।

आज की शिक्षा पद्धति की विडंबना यही है कि व्यक्ति विश्व के बारे में, दूसरों के बारे में तो सब कुछ जानता है, परंतु स्वयं को नहीं जान पाता। यदि स्वयं को जान ले तो उपनिषद् की श्वेतकेतु की कथा के अनुसार जानने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता। स्वयं को जानने की कला ही जीवन की कला है, जिसे आज कला न कहकर विज्ञान कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। इसी जीवन विज्ञान को शिक्षा का भाग बना दें, यही होगा शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन।

महात्मा गांधी भी शिक्षा का उद्देश्य बालक और मनुष्य के शरीर, मन व आत्मा में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसका पूरी तरह प्रस्फुटन मानते थे। उनके अनुसार आत्मा का विकास ही चरित्र निर्माण है। आत्मा के संस्कार के बिना सब शिक्षा बेकार ही नहीं, घातक भी हो सकती है। उनकी दृष्टि में स्वावलंबन ही शिक्षा की सही कसौटी है। महान विचारक व शिक्षक जे. कृष्णमूर्ति भी सिर्फ ज्ञान के संग्रह व संकलन और विषयों की सुसंगत जानकारी को शिक्षा नहीं मानते थे। उनके अनुसार संपूर्ण रीति से जीवन का मर्म समझना ही सच्ची शिक्षा है। उन्होंने एक निबंध में लिखा था—'अज्ञानी मनुष्य वह नहीं है जो अशिक्षित है, अपितु वह है जो अपने आपको नहीं पहचानता। समझ सिर्फ स्वज्ञान से प्राप्त होती है और अपने मन की समस्त प्रक्रियाओं को जानना ही स्वज्ञान है।'

आचार्यश्री तुलसी ने शिक्षा में वैज्ञानिकता व आध्यात्मिकता के समन्वय पर जोर दिया। उनका कहना था कि कोरी आध्यात्मिकता युग को प्राण नहीं दे पाएगी और कोरी वैज्ञानिकता युग को त्राण नहीं दे पाएगी। दोनों के मिलन में ही मानव-कल्याण निहित है। उनके अनुसार शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को केवल जीना सिखाना नहीं, पर सार्थक जीवन, ऊर्ध्वमुखी जीवन और विकासशील जीवन जीना सिखाना है। डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन के अनुसार वही शिक्षा पद्धति संतोषप्रद गिनी जाती है जिसका उद्देश्य व्यक्ति का संतुलित विकास करना हो और जो ज्ञान और विवेक दोनों पर बल दे। जो सिर्फ बुद्धि को ही प्रशिक्षित नहीं करे, अपितु लोगों के हृदय में उदारता का भाव भरे।

शिक्षा आयोग के अध्यक्ष व प्रसिद्ध वैज्ञानिक डॉ. दौलतसिंह कोठारी ने कहा था—चरित्र निर्माण करना ही शिक्षा की मूल भूमिका है। दुर्भाग्य यह है कि इस अवधारणा को समुचित महत्त्व नहीं मिलता। लेकिन अब शिक्षा और विशेषतः विज्ञान शिक्षा के क्षेत्र में सामाजिक एवं नैतिक मूल्यों को विकसित करने की चेतना निरंतर बढ़ रही है। डॉ. कोठारी का कहना था कि शायद शिक्षा का सबसे पहला काम यही है कि हम नैतिकता को एक जीवंत शक्ति बनाएं तथा इसे स्फटिक चेतना का रूप दें। प्रमुख चिंतक डॉ. छगन मोहता ने राष्ट्रीय शिक्षा नीति पर चर्चा करते हुए कहा था कि शिक्षा का उद्देश्य कर्तव्यपरायण प्रलोभनमुक्त व्यक्ति का विकास करना तथा समाज का पुनर्गठन करना है।

उनका कहना था कि भीतरी रोशनी शिक्षा से ही लाई जा सकती है। भीतरी रोशनी होने पर जो भी दिखाई देगा वह सत्य होगा।

आजाद स्मृति व्याख्यानमाला में जो बात पंडित जवारहरलाल नेहरू ने कही थी वह शिक्षा के सही उद्देश्यों को उजागर करती है। उन्होंने कहा था—'क्या हम विज्ञान और प्रौद्योगिकी की प्रगति को मस्तिष्क व आत्मा की प्रगति के साथ जोड़ सकते हैं? हम विज्ञान के साथ झूठे नहीं हो सकते, क्योंकि वह आजकल जीवन के मूलभूत तथ्यों का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार हम उन आवश्यक सिद्धांतों को भी नहीं झुठला सकते जिनकी भारत ने युगों तक पैरवी की है। हमें चाहिए कि हम पूरी ताकत व ऊर्जा के साथ औद्योगिक प्रगति की ओर बढ़ें, पर साथ ही याद रखें कि सहनशक्ति, विवेक एवं उदारता से रहित भौतिक उन्नति अंततः राख के ढेर में बदलने वाली है।

विश्व संस्था यूनेस्को के घोषणा पत्र के प्रारंभिक शब्द हैं—'चूंकि युद्ध मानव के मस्तिष्क में शुरू होते हैं अतः शांति की मोरचा बंदी का निर्माण भी मस्तिष्क में ही होना चाहिए।' दिमाग सद्गुणों या भ्रष्ट आचरणों—दोनों का उद्गम है। जो व्यक्ति किसी युद्ध में हजारों व्यक्तियों को जीतता है उसकी तुलना में वह व्यक्ति कहीं बड़ा है जो स्वयं को जीतता है। वही सबसे बड़ा विजेता है। यह जीत भी भीतर प्रकाश होने पर ही संभव है। प्रकाश का अस्तित्व ही अंधकार से मुक्ति है और उस अस्तित्व का भान कराना ही शिक्षा है। शिक्षा के उद्देश्यों व नीति पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद गठित सभी आयोगों ने गंभीरतापूर्वक विचार किया—चाहे वह विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) हो, माध्यमिक शिक्षा आयोग (1952) हो या शिक्षा आयोग 1964-66) हो। शिक्षा आयोग (1964-66) एक व्यापक आयोग था—जिसमें प्राथमिक, माध्यमिक, विश्वविद्यालयी, तकनीकी, प्रौढ़ शिक्षा आदि सभी सम्मिलित थे। सन् 1968 में राष्ट्रीय शिक्षा नीति जारी की गई थी और ऐसा ही प्रयास फिर 1986 में हुआ।

सभी आयोगों का सार निकालें तो शिक्षा के प्रमुख दो उद्देश्य सामने आते हैं : (1) विज्ञान व प्रौद्योगिकी के विकास के माध्यम से व्यक्ति को अपने जीविकोपार्जन के लिए सक्षम बनाना और (2) सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों के माध्यम से व्यक्ति के सर्वांगीण विकास का मार्ग प्रशस्त करना। अच्छे जनतांत्रिक नागरिक के गुण सामाजिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों में समाहित हो जाते हैं।

प्राचीन काल की मान्यताओं, भारत के आधुनिक चिंतकों, शिक्षाशास्त्रियों और भविष्यद्रष्टाओं की मान्यताओं के विपरीत आज शिक्षा प्राप्त करने का एकमात्र

उद्देश्य स्मृति को पुष्ट करना, आर्थिक विकास के लिए नौकरियां प्राप्त करना और भौतिक प्रगति ही माना जा रहा है। आज की शिक्षा जीविकोपार्जन के उद्देश्य में भी नाकाम रही है, शिक्षितों की कुंठा और बेरोजगारों की बढ़ती फौज इसके प्रमाण हैं। शिक्षा आयोग (1964-66) के उद्देश्यों पर की हुई महत्त्वपूर्ण अभिशंसाओं की क्रियान्विति के बारह वर्ष बाद की गई समीक्षा के आधार पर आयोग के ही सदस्य-सचिव एवं प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री श्री जे.पी. नाईक का मत था कि प्रस्तावों को सरकारी और गैर सरकारी क्षेत्रों ने सामान्यतया स्वीकार तो किया, पर बाधा यह रही कि उनका क्रियान्वयन बहुत ही उदासीन ढंग से किया गया। इस विषय पर उपदेशों की तो कोई कमी नहीं रही, परंतु ठोस शैक्षिक कार्य, जिसकी सर्वाधिक आवश्यकता थी, बिल्कुल नहीं हुआ। यही हालत उनके द्वारा प्रकट विचारों की आज भी बनी हुई है।

महाभारत का एक प्रसंग है कि विदुरजी दुर्योधन के पास गए। पांडव तो वन में गए हुए थे। उसने उन्हें जुए में छल से हराया था। उनका राज्य ले लिया था। दुर्योधन का नाम चारों ओर गूंज रहा था। उस समय विदुरजी उसके पास गए और कहा—'वत्स, तुम्हारे सामने कोई सत्य कहने का साहस नहीं करता। सब आतंकित हैं। लेकिन तुम जो भी कर रहे हो, वह गलत है, अधर्म है। द्रौपदी तुम्हारी भाभी है। तुम उसका चीर हरण करो तो इसे धर्म कौन कहेगा? अपने भाइयों को छल से जुए में हराना भी उचित नहीं कहा जा सकता है।' तब दुर्योधन ने उत्तर दिया—'काका, क्या आप जानते हैं कि मुझे इन बातों का पता नहीं है कि यह अधर्म है? क्या आप यह समझते हैं कि मैं धर्म के विषय में नहीं जानता? लेकिन मुश्किल यह है कि 'जानामि धर्मम् न च मे प्रवृत्ति, जानाम्यधर्मम् न च मे निवृत्ति'। धर्म क्या है, मैं यह जानता हूं, लेकिन उसकी पालना नहीं कर सकता। अधर्म क्या है, मैं यह जानता हूं लेकिन उससे मुक्त नहीं हो सकता।'

प्रमुख शिक्षा-चिंतक श्री मनुभाई पंचोली कहते हैं कि हम सब आंशिक रूप से ही सही, दुर्योधन हैं। प्रधानमंत्री, शिक्षामंत्री, शिक्षा प्रशासन का भार सम्हाले सामान्य प्रशासक, शिक्षाविद् और जिन्हें भी शिक्षा पर बोलने का कहीं भी अवसर मिलता है—सभी यह कहते हुए नहीं अघाते कि शिक्षा का प्रमुख कार्य व्यक्ति को अच्छा इन्सान बनाना है और आज की शिक्षा इससे विमुख है, अतः इसमें आमूलचूल परिवर्तन होना चाहिए। ये वही लोग हैं जिन पर आमूलचूल परिवर्तन का भार है। संभवतः ऐसा कहते रहने और न करने में निहित स्वार्थ है, क्योंकि यदि वास्तव में शिक्षा से सही समझ, भीतर झांकना व स्वज्ञान का प्रकाश हो जाए तो आज के राजनीतिज्ञों का अस्तित्व खतरे में पड़ सकता है और आज के सामान्य प्रशासकों की लोभ व भय से कार्य कराने की वृत्ति असफल हो सकती है।

जब कभी शिक्षा में सामाजिक, नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों की बात आती है, सामान्यतया पाठ्य पुस्तकों में कुछ महापुरुषों की जीवनियां जोड़ने या प्रेरक प्रसंगों के उल्लेख मात्र को उद्देश्यों की प्राप्ति समझ लिया जाता है। इस बारे में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी की देशना बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जो शिक्षा में अधिगम प्रक्रिया को सटीक स्पष्ट करती है—'कुछ लोग कहते हैं—एक महापुरुष की जीवनी पढ़ा देंगे तो विद्यार्थी अच्छा बन जाएगा। हम इसको अस्वीकार नहीं करते। गांधी के साहस की एक घटना पढ़ेंगे तो साहस का विचार स्फुरित होगा। कर्तव्यपरायणता, ईमानदारी की कोई घटना पढ़ेंगे तो दिमाग में एक बिजली कौंध जाएगी, एक तरंग पैदा हो जाएगी। किंतु यह मानव मस्तिष्क भी अजीब है। क्या यह कह सकते हैं—एक बार जो तरंग आई, वह मस्तिष्क में छाई रह जाएगी? समुद्र में कितनी ही तरंगें उठती हैं, किंतु वापस गिर जाती हैं। तरंग टिकती कहां है? उसे टिकाने की कोई प्रक्रिया जरूरी है। पुस्तकों के माध्यम से कर्तव्यबोध, दायित्वबोध आदि का पाठ कितना ही पढ़ा दें, तब तक उनकी कोई सार्थकता नहीं होगी—जब तक उनकी अनुप्रेक्षा नहीं कराई जाएगी, जब तक स्वतःसूचन या 'सजेस्टोलोजी' के प्रयोग नहीं कराए जाएंगे, शिथिलीकरण कराकर उनको हृदयंगम नहीं कराया जाएगा और वह भी एक बार नहीं, महीनों तक निरंतर सातत्य की प्रक्रिया नहीं चलेगी, तब तक जो पढ़ाया जा रहा है, उसके साथ तादात्म्य स्थापित नहीं होगा।'

श्रीकृष्ण गीता में अर्जुन से कहते हैं कि इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। अर्जुन प्रश्न करता है—'हे जनार्दन, यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है तो फिर हे केशव! मुझे भयंकर कर्म में क्यों लगाते हैं? कृष्ण कहते हैं—ज्ञान ही काफी है, क्योंकि ज्ञान यदि घटित हुआ तो फिर कुछ भी ज्ञान के विपरीत करना असंभव है। महावीर भी यही कहते हैं—अज्ञानियों की क्रिया व्यर्थ है, जो ज्ञान में नहीं उतरा और आचरण में आ गया तो वह पाखंडी बनाएगा। यदि ज्ञान में आ गया तो आचरण में आने से बच नहीं सकता।

ज्ञान वही है जो समझ में उतरे, भीतर घटे, होश में, चैतन्य में घटे। आचरण में उतरे। जो ज्ञान आचरण में नहीं

उतरे, कंठ तक ही रहे और केवल याददाश्त का भाग बने—वह ज्ञान नहीं, उसे उद्घाटित करने वाला ज्ञानी नहीं, पाखंडी है। जानने में और जानकारी में अंतर है। जानना होता है स्वयं का और जानकारी होती है किसी और से, कोई और कह देता है, कहीं से पढ़ लेते हैं। जानकारी से ज्ञान का भ्रम पैदा हो जाता है। जो भीतर से जनमता, वह ज्ञान संग्रह की तरह इकट्ठा नहीं होता, वह चेतना से विकसित होता है।

एक ही चीज रूपांतरण ला सकती है और वह है जागरण, वह है बोध। मात्र उपदेश से कुछ नहीं बदलता। जीवनियां, घटनाएं मात्र पढ़ लेने से परिवर्तन नहीं आता। बदलाव की प्रामाणिक विधियां शिव के विज्ञान भैरव तंत्र और पातंजलि के योग सूत्र में स्पष्ट की हुई हैं—भीतर को बदलो और सब बदल जाएगा। एक बार चित्त दूसरा हुआ कि चारित्र्य दूसरा हो जाएगा। बुद्ध का आखिरी वचन, जो इस पृथ्वी से विदा होते हुए दिया, वह स्मरण योग्य है—'अप्प दीपो भव' अपने दीए खुद बनो। अपने दीए खुद बनने के लिए भीतरी प्रयत्न ही काम के हैं। शिक्षा में बाहरी प्रयत्न तो बहुत किए पर बात कुछ बनी नहीं। आमूलचूल परिवर्तन की बात मात्र भीतरी प्रयत्न से ही संबंधित है और यह प्रयत्न दिखने में बहुत कठिन लगता है—मन जो चालाक है, निजी स्वार्थ भी है, इसीलिए हर बार इसे दोहराते रहते हैं, करते कुछ नहीं।

विज्ञान व प्रौद्योगिकी की शिक्षा के साथ यदि आत्मा की शिक्षा या कहें स्वयं को जानने की शिक्षा सम्मिलित करें तभी शिक्षा सर्वांगीण, उपयोगी और देश में गहराते संकट से उबारने वाली बन सकती है। सर्वांगीण विकास वाली भारतीय शिक्षा पद्धति को अंग्रेजों ने जान-बूझकर नष्ट किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हर बार यह अनुभव किया गया कि शिक्षा को किस प्रकार हमारे सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय आदर्शों के अनुरूप ढाला जाए जिससे बालक एवं बालिकाओं में जीवनमूल्यों के प्रति आस्था पैदा की जा सके एवं उनका आचरण उसके अनुरूप बन सके?

आज की शिक्षा पद्धति की विडंबना यही है कि व्यक्ति विश्व के बारे में, दूसरों के बारे में तो सब कुछ जानता है, परंतु स्वयं को नहीं जान पाता। यदि स्वयं को जान ले तो उपनिषद की श्वेतकेतु की कथा के अनुसार जानने को कुछ भी शेष नहीं रह जाता। स्वयं को जानने की कला ही जीवन की कला है, जिसे आज कला न कहकर विज्ञान कहना ज्यादा उपयुक्त होगा। इसी जीवन विज्ञान को शिक्षा का भाग बना दें, यही होगा शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के बाद जब शिक्षा में परिवर्तन की बात बलवती हुई तो राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने 'जीवन विज्ञान' के पाठ्यक्रम का निर्माण करने का कार्य हाथ में लिया, पुस्तक भी लिखी गई। यह कार्य आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के मार्गदर्शन में रुचिशील शिक्षकों, शिक्षाविदों और जीवन वैज्ञानिकों ने मिलकर किया। भारतीय चिंतना के अनुसार सैद्धांतिक व प्रायोगिक पाठ्यक्रम बनाया गया—जिसे राजस्थान माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने शारीरिक एवं स्वास्थ्य शिक्षा के अंतर्गत सन् 1989 में स्वीकृत भी किया, शिक्षकों को प्रशिक्षण भी दिया, पर शिक्षा के इस मूलभूत पाठ्यक्रम पर जोर धीरे-धीरे हटता गया और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के अनुसार शिक्षा में बदलाव लाने की अहम प्रक्रिया ठप्प हो गई।

शिक्षा में आज जिन पक्षों की मुख्यतः कमी है वे सभी जीवन विज्ञान में सम्मिलित हैं—वे सभी सैद्धांतिक एवं प्रायोगिक पक्ष, जिनसे स्व को समझने में सहायता मिले, जैसे—ध्वनि, संकल्प, योग, श्वास, ध्यान, शिथिलन प्रक्रिया, शरीर विज्ञान, शारीरिक, मानसिक एवं भावनात्मक स्वास्थ्य, मूल्यबोध, अनुप्रेक्षा, साक्षीभाव आदि। शब्द अथवा व्यक्त को दोहराने से कुछ नहीं होता—पाठ्यक्रम भी लागू हो जाए और उसके पीछे अव्यक्त को न समझा जाए, भाव उसमें समाविष्ट न हों तब तक कोई शब्द या क्रिया वांछित प्रभाव नहीं ला सकती। बालकों में भाव तभी उत्पन्न हो सकता है जब अध्यापक प्राणवान व भाव से ओत-प्रोत हो। अतः जीवन विज्ञान का प्रथम चरण है अध्यापकों में स्वज्ञान, स्वविश्लेषण, स्वचिंतन, योग, ध्यान में पूर्ण आस्था व कौशल विकसित करना। ऐसे प्रयोग हुए हैं और यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह संभव है।

शासन और इसके शीर्षस्थ प्रशासक यदि वास्तव में मन से शिक्षा को देश, काल के अनुरूप बनाकर मानव-कल्याण की ओर अग्रसर होना चाहें तो इसका 'जीवन विज्ञान' की शिक्षा ही एकमात्र मार्ग है। 'जीवन विज्ञान' सार्वलौकिक, संप्रदाय की सीमाओं से परे और सर्वहिताय है। रास्ता अगम नहीं है—स्पष्ट है, सीधा है। आवश्यकता यदि कोई है तो उस पर चलकर मंजिल तक पहुंचने की। सैकड़ों वर्षों का अंधेरा भले ही रहा हो, पर दीया जलाया जाए तो एक क्षण में अंधेरा विलीन हो जाएगा। आमूलचूल परिवर्तन की अस्पष्टता भी फिर समाप्त हो जाएगी।

❖

शिक्षक दिवस पर विशेष-3

शिक्षा की मूल्यवत्ता : आगमिक संदर्भ

डॉ. जिनेन्द्र जैन

हर व्यक्ति अपने जीवन में किसी न किसी आदर्श के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। नैतिक परममूल्य उसका एक आदर्श हो सकता है—इसे परमशुभ या परममोक्ष भी कह सकते हैं। जब तर्कशास्त्र में सत्य, नीतिशास्त्र में शुभ और सौंदर्यशास्त्र में सौंदर्य पर विचार किया जाता है तो सत्य, शुभ एवं सौंदर्य ही उनके कार्यक्षेत्र के आदर्श बनते हैं और 'सत्यं, शिवं, सुदरं' की भावना से फलीभूत जो भी क्रियाकलाप हैं, वे ही उनके 'मूल्य' भी हो जाते हैं।

भारतीय चिंतन-परंपरा में भी पाश्चात्य दार्शनिकों की मान्यताओं को विमर्श का विषय बनाया गया है। पाश्चात्य परंपरा में सुखवादियों ने सुख को, जैविक विकासवादियों ने शारीरिक पूर्णता को, आत्मपूर्णतावादियों ने आत्मा को तथा कान्ट जैसे नैतिक निरपेक्षवादी विचारकों ने शुभ संकल्प या शुभ आचरण को जीवन का मूल्य माना है। अतः भारतीय विचारधारा के संदर्भ में उक्त पाश्चात्य बिंदुओं को मापें तो परदुख को देखकर जो सहानुभूति, दया, त्याग या उत्सर्ग आदि के भाव ह्दय में उठते हैं, वही 'मूल्य' हैं। और ये मूल्य ही किसी आदर्श को प्रतिष्ठापित करते हैं। जीवन और संसार को हम जिस अर्थ के संदर्भ में समझने की चेष्टा करते हैं उस अर्थ को सामान्य रूप से मूल्य कहा जाता है। सामान्यतः देखने में भी यही आता है कि वस्तुओं और आदर्शों की उपयोगिता मूल्यों पर ही निर्भर है। आत्मा को ही परममूल्य मानने से आत्मचेतना द्वारा उत्पन्न सदाचारयुक्त संस्कृति, विचार एवं भाव ही मूल्य कहलाते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो स्वविकास के बजाय सर्वोदय विकास की भावना ही मूल्यों की जन्मदात्री है। स्वार्थपूर्ति में बाधा के भय से इनके अर्थ प्रायः विकृत हो जाते हैं। तब समाज में मूल्यों का ह्रास होता नजर आता है।

मूल्य समाज को व्यवस्था तथा व्यक्ति के व्यवहार की दिशा को आधार देते हैं। जैसा कि शिक्षा को एक मूल्य माना गया है, शिक्षा की स्वतंत्रता उससे भी बड़ा मूल्य है। इसीलिए मनुष्य को अपने परम लक्ष्य 'शुभत्व की प्राप्ति' को प्राप्त करने के लिए स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। स्वत्व, स्वदेश एवं स्वानुभव से संबद्ध मनुष्य की शैक्षिक-प्रणाली का विकास अवश्य होना चाहिए। तभी हम 'सच्चा इन्सान' बनाने के लिए सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि नियमों के मूल्यों की सार्थकता समझ पाएंगे।

मूल्य एक-से नहीं होते। एक न होकर मूल्य अनेक होते हैं। मूल्य स्थाई, सार्वकालिक और सार्वभौम होते हैं। आंतरिक एवं बाह्य अथवा साध्य एवं साधन के रूप में मूल्य दो भागों में विभक्त किए गए हैं।[1] पाश्चात्य विचारक अरबन[2] ने मूल्यों का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका द्वारा व्यक्त किया है, भारतीय चिंतन के भौतिक, आध्यात्मिक, नैतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि मूल्य भी इसमें स्वतः समाहित हो जाते हैं।

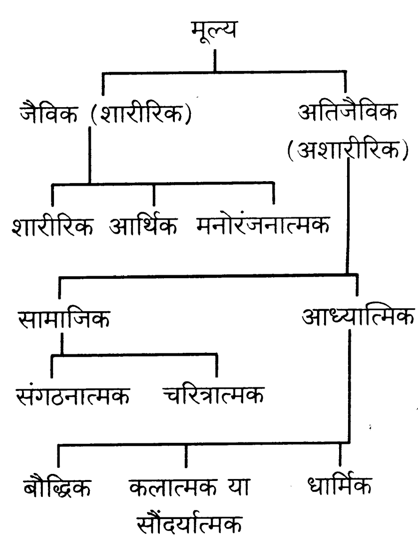

मूल्यों की उक्त तालिका के अनुसार अरबन ने मूल्यों के दोनों भेदों को जीवन के विभिन्न पक्षों से सम्बद्ध मानते हुए शारीरिक अर्थात् भौतिक एवं अशारीरिक अर्थात् सामाजिक कहा है। ये सामाजिक मूल्य नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के भेद से दो प्रकार के हैं, जिनमें मौलिकता, सृजनता, सौंदर्यात्मकता, धार्मिकता आदि तत्त्व समाहित हैं। अतः मूल्यों के वर्गीकरण एवं उनके विषयक्षेत्र के प्रयोगों में तीन अर्थ व्यक्त होते हैं[3]—

1. स्वाभाविक उत्कर्ष,
2. उपयुक्तता,
3. प्राप्यता या साध्यता।

इन तीनों बिंदुओं पर विचार करें तो यह स्पष्ट है कि 'साध्य' के प्रत्यय में योग्यता, औचित्य, परत्व, प्राशस्त्य या उत्कर्ष के प्रत्यय अंतर्भूत हैं। विभिन्न व्यावहारिक क्षेत्रों के साध्य व साधन ही सामान्यतया पुरुषार्थ या मूल्य कहलाते हैं, क्योंकि साध्य में एषणा और प्राप्ति का विषय बनने की योग्यता होने से उपयुक्तता स्वयं तिरोहित रूप है। जिस विषय को हम सम्यक् ज्ञानपूर्वक पाना चाहते हैं, उसे मूल्यवान मानते हैं। श्रद्धा, विश्वास, उपासना, पूजा कोई बुरे नहीं, किंतु विवेक के अभाव में ये सभी पंगु या मूल्यहीन हैं। इसीलिए तर्क और विवेक से तथ्यों को ग्रहण कर मूल्यों की संस्कारित छवि बनी रहे, यह अति आवश्यक है।

सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तु आदि सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने मूल्यों को स्थान दिया है। 'सद्गुण ही ज्ञान है' कहकर सुकरात ने भारतीय चिंतन के प्रेम, न्याय एवं परोपकार जैसे मूल्यों को 'सद्गुण' में अंतर्भूत कर दिया।

प्लेटो ने सत्, श्रेयस् एवं सौंदर्य की अभिव्यक्ति को मूल्य मीमांसा माना है, जबकि अरस्तु ने सौंदर्य की मीमांसा में 'न्याय', 'दिके-धर्म' को मूल्य कहा है।[4] मार्क्सवादियों के लिए 'आर्थिक मूल्य' ही परममूल्य हैं, इस भावना को एवं अध्यात्मवादी धार्मिक मूल्यों को महत्त्व देकर जीवन के श्रेष्ठ, अनिवार्य एवं आवश्यक मूल्यों की स्थापना स्वतः निर्धारित हो जाती है। इसीलिए अरस्तू द्वारा मूल्यों के वर्गीकरण में भेद-प्रभेद रूप सभी बिंदुओं पर विचार किया गया है।

आंतरिक एवं बाह्य या साध्य एवं साधन मूल्यों की परंपरा में अब यहां जैन आगम की शैक्षिक दृष्टि का मूल्यांकन किया जा रहा है।

शिक्षा

'शिक्षा' स्वयं एक मूल्य है। शिक्षा को अधिगम, अध्ययन, ज्ञानाभिग्रहण, किसी कार्य को करने के योग्य होने की इच्छा, निष्णात होने की इच्छा, विनय, विनम्रता आदि भावात्मक रूपों में प्रतिपादित किया गया है।[5] 'शास्त्राध्ययन करना' यह शिक्षा का शाब्दिक अर्थ है।[6] और वह शास्त्र पाप-हरण करने में निपुण है। अतः उसे दिन-रात पढ़ना चाहिए।

शिक्षा में भविष्योन्मुखी चिंतन की दृष्टि से विश्व में कुछ योजनापूर्ण नीतिनिर्धारण हुआ है, जिनमें प्रो. टॉर्स्टन के 'ईस्वी सन् दो हजार में शिक्षा'[7] तथा युनेस्को के अंतरराष्ट्रीय शिक्षा आयोग के अध्यक्ष प्रो. एडगर फोर के 'लर्निग टू वी'[8] प्रमुख हैं।[9] इन दोनों में बताया गया है कि भविष्य में समाज सदा सीखने को उत्सुक रहेगा और उसके सामाजिक एवं राजनीतिक आदि सभी मूल्यों का मापदंड उनका अपना वर्तमान होगा। हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986,[10] में भी सार्वभौमिक मूल्यों, जो हमें एकता की ओर ले जाएं, सौंदर्य, परस्पर सहयोग, संस्कृति, संवेदनशीलता, लिंग समानता, समता आदि को बढ़ावा दिए जाने का सुझाव है। ये मूल्य ही चिंतन में नवीनता और स्वतंत्रता का संवेदनात्मक स्वर प्रखर कर सकेंगे।

भारतीय साहित्य के संदर्भ में यदि शैक्षिक मूल्यों की छवि देखने का प्रयास करें तो वेदों से लेकर उपनिषद, गीता, भागवत, मनुस्मृति और भारत के आस्तिक एवं नास्तिक दर्शनों की सभी धाराएं मानव जीवन के धर्म विषयक नैतिक प्रत्ययों से रहित नहीं हैं। किसी न किसी रूप में उनमें सत्य, प्रेम, धर्म, स्वाध्याय, तप, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह, यम एवं नियम[11] आदि मूल्यों को स्वीकार किया ही गया है। मनुस्मृति[12] में सत्य एवं प्रेम को ही धर्म के रूप में परिभाषित किया गया है। गीता तो मूल्यों का कोश ही है। उसके अनेक प्रसंगों में धर्म, सदाचार, मानव-कल्याण के बीज विद्यमान हैं।

जैन आगम साहित्य—साधना एवं साधक पक्ष दोनों ही—शिक्षा-मूल्यों के मोतियों से गुंथा हुआ है। जैनागम साहित्य भाषात्मक दृष्टि से दो रूपों में प्रवाहित हुआ है—अर्द्धमागधी एवं शौरसेनी आगम। यद्यपि ये दोनों साहित्य माने जाते हैं, किंतु इनसे पूर्व भी शिलालेखी साहित्य लिखित रूप में प्राप्त होता है। अशोक महान और खारवेल जैसे प्रतापी शासकों की धर्म-परायणता का परिचय इस शिलालेखी साहित्य से मिल जाता है। इन दोनों शासकों ने समता, दया, आदर, असांप्रदायिकता जैसे शब्दों का प्रयोग कर मानवीय मूल्यों की स्थापना की थी। 'पाखंड', 'उचित व्यवहार', प्राणी मात्र के लिए छायादार वृक्ष, कुओं का निर्माण तथा वृद्धजनों की सेवा—ये सभी

प्रसंग उसके नैतिक, धार्मिक मूल्यों की गाथा बताते हैं। आगमेतर साहित्य की अन्य विधाएं—जैसे प्राकृत कथा साहित्य, चरित साहित्य, महाकाव्य, मुक्तक काव्य, स्तोत्र, नाटक (सट्टक) भी यत्र-तत्र मानवीय प्रवृत्तियों से संबद्ध मूल्यशास्त्र को प्रस्तुत करती हैं। इन मूल्यपरक सिद्धांतों के प्रतिपादन में रचनाकारों की जैनत्वपूर्ण संस्कृति जहां फलदाई दिखाई देती है, वहीं इन शास्त्रों में मूल्यों के संघर्षों पर भी प्रकाश पड़ता है। महाभारत के नराधमता एवं नरोत्तमता के मूल्यों में टकराव प्राकृत के आगमेतर साहित्य में भी मिलते हैं। धनपाल की 'भविष्यत्तकहा', शीलांक का 'चउप्पनमहापुरिसचरियं' एवं अन्य जैन कथाएं जहां ह्रासमय मूल्यों के संघर्ष का दिग्दर्शन कराती हैं, वहीं वर्तमान जीवन के शुभ एवं अशुभ दोनों पहलू भी दिखाए गए हैं, जिनमें मनुष्य या तो धर्ममय है या मन्युमय। मानव जीवन के मूल्य इन्हीं दो प्रकार की दृष्टियों से प्रादुर्भूत मूल्य हैं, जिनमें मेल कम, संघर्ष ज्यादा है।[13] किंतु श्रेष्ठ मूल्यों के प्रति अगाध निष्ठा नर को नरोत्तम और नारायण भी बना देती है। भीतर की वृत्तियों (राग-द्वेष) को मनुष्य जीत सके तो बाह्य महाभारत (युद्ध, वैमनस्य, बुराई आदि) रुक सकता है। अतः शिक्षा के माध्यम से ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, सहिष्णुता, उदारता, स्वानुशासन, सेवा और बलिदान जैसे सार्वभौमिक शाश्वत मूल्यों के संस्कार शिक्षार्थी तक पहुंचाए जाएं और शिक्षा द्वारा मूल्यों में गुणात्मक अभिवृद्धि की जा सके।

मूल्य समाज को व्यवस्था तथा व्यक्ति के व्यवहार की दिशा को आधार देते हैं। जैसा कि शिक्षा को एक मूल्य माना गया है। शिक्षा की स्वतंत्रता उससे भी बड़ा मूल्य है। इसीलिए मनुष्य को अपने परम लक्ष्य 'शुभत्व की प्राप्ति' को प्राप्त करने के लिए स्वतंत्रता दी जानी चाहिए। स्वत्व, स्वदेश एवं स्वानुभव से संबद्ध मनुष्य की शैक्षिक-प्रणाली का विकास अवश्य होना चाहिए। तभी हम 'सच्चा इन्सान' बनाने के लिए सामाजिक, नैतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि नियमों के मूल्यों की सार्थकता समझ पाएंगे।

जैन आगम महावीर वाणी का संकलन है। महावीर ने प्राणीमात्र के कल्याण के लिए उपदेश दिए। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव ने श्रमणधर्म की तात्कालिक जीवन से संबद्ध मूलभूत धार्मिक शिक्षाओं को उजागर किया। महावीर ने उन्हीं शैक्षिक मूल्यों को, जो धार्मिक शिक्षाओं से युक्त थे, और अधिक व्यापक किया। प्राणीमात्र के कल्याण के लिए समर्पित उनके अनेक सूत्र ग्रंथों/आगमों में प्राप्त होते हैं। भगवान महावीर का धर्म मूलतः बदलते संदर्भों का धर्म है। वह धर्म, सामाजिक, राजनीतिक, भावात्मक या वर्ग विशेष के रूप में न ठहरकर यथार्थता के धरातल पर विकसित और प्रवहमान हुआ।

आगमों में प्राप्त साधना एवं साधक तथा तथ्य (शिक्षा) ये तीन अंग शैक्षिक मूल्यों के बनते हैं। इसे दूसरे शब्दों में शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी कहा जा सकता है। महावीर की वाणी-रूप आगम में जितने भी नियम या सिद्धांत दिए हैं, वे सभी शिक्षा, शिक्षक और शिक्षार्थी के अंतर्गत समाहित हो जाते हैं।

जैन धर्म और दर्शन के जितने भी सूत्र/सिद्धांत आगमों में हैं, वे सभी 'शिक्षा' रूप माने जाते हैं। 'मानव को आत्म-बोध के द्वारा मुक्ति की ओर अग्रसर करने वाली प्रक्रिया शिक्षा कही जाती है।' इसे ही सूक्ति रूप में 'सा विद्या या विमुक्तए' कह सकते हैं। शिक्षा के संदर्भ में आचारांग का मूल्यांकन करें तो पाते हैं कि प्रारंभ से ही जीव के विषय में उठे अनेक प्रश्न शैक्षिक मान्यताओं को स्पष्ट करते हैं। 'चारित्रं खलु धम्मो'[14] 'णाणस्स सारं आयारो', 'आदा णाणपणमाणं[15] जैसे वाक्यों से आगम की शैक्षिक दृष्टि का ज्ञान होता है। आचारांग आदि आगमों की कुछ निम्न सूक्तियां यहां द्रष्टव्य हैं, जिनसे शिक्षामूल्य स्थापित हो सकते हैं :

1. वेरं वड्ढेइ अप्पणो—विषयातुर मनुष्य अपने भोगों के लिए संसार में बैर बढ़ाता है। (आचा. 1/2/5)
2. अलं बालस्स संगेण—बाल जीव (अज्ञानी) का संग नहीं करना चाहिए। (आ. 1/2/5)
3. अणणो जीवो अण्णं शरीरं—आत्मा और है, शरीर और है। (सूत्र 2/1/9)
4. अणुसासिओ न कुप्पिज्जा—गुरुजनों के अनुशासन से कुपित नहीं होना चाहिए। (उत्तरा. 1/9)
5. मुच्छा परिग्गहो वुन्तो—मूर्छा को ही वस्तुतः परिग्रह कहा है। (दशवै. 6/21)

जैन॰धर्म में बारह प्रकार के व्रत कहे गए हैं। जिनमें पांच महाव्रत, तीन अणुव्रत एवं चार शिक्षाव्रत हैं। इनका पालन करने से व्यक्ति की निर्मल एवं शालीन छवि प्रदर्शित होती है। व्रतों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह श्रमणों एवं श्रावकों के लिए अनिवार्य कहे हैं। ये सभी शैक्षिक मूल्य कहे जाते हैं।

अहिंसा की प्रतिष्ठा महावीर के धर्म में सर्वोपरि थी। मणसावाचाकर्मणा रूप अहिंसा का उपदेश वर्तमान जीवन

की प्रासंगिकता है। अहंकार, ईर्ष्या और स्वार्थ से भरे इस समाज में दूसरे को मिटा देने की बात कही जाती है, किंतु महावीर ने अपनी आत्मा के दमन की बात की। आत्मा का दमन करने वाला ही लोक-परलोक में सुखी होता है।[16] महावीर की यह वाणी 'परस्परोपग्रहो जीवानाम्' सभी जीवों को जीने दें, सभी जीव समान हैं, सामाजिक परिवेश के लिए सौ टका सही और आवश्यक है।

सत्य बहुत कठोर होता है। यथार्थ का सामना करना बहुत मुश्किल होता है। इसीलिए शास्त्रों में सत्य एवं प्रेममय वाणी के प्रयोग का उपदेश दिया गया है। प्राचीन जैन आगम इसिभासियाइं, दसवैआलियं में शिक्षामूल्य भरे पड़े हैं। इसी प्रकार प्रकीर्णक साहित्य में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं जो आचरण, नैतिकता, परोपकार आदि मूल्यों से संबंधित हैं। प्रश्नव्याकरण[17] प्रभृति आगम ग्रंथों में मन, वचन, काय तीनों को नियंत्रित कर असत्य एवं अप्रिय नहीं बोलने के सार्वकालिक व सार्वभौम मूल्यों का उपदेश दिया गया है। अष्टांग योग में न्यायदर्शन के यम[18] एवं नियमों[19] का उल्लेख आता है। जैन दर्शन में इन्हें महाव्रत या अणुव्रत[20] एवं दस धर्म[21] के रूप में जाना जाता है। ये यम, नियम रूप महाव्रत या अणुव्रत तथा दस धर्म मनुष्य के धार्मिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के अंतर्गत आते हैं। जो इनकी अनुपालना करता है वह कभी असामाजिक नहीं होगा। मन, वचन, काय स्वरूप अपने योग द्वारा इंद्रियों पर नियंत्रण रहने से अनेक वैचारिक असमानता जैसी बुराइयां समाप्त हो जाती हैं और आध्यात्मिक स्तर पर सामाजिक कार्यों का मूल्यांकन सामंजस्य एवं शालीनता प्रदान करता है।

जैन दर्शन में आत्मा (जीव) का अंतिम लक्ष्य 'मोक्ष' कहा गया है। इसके लिए कहा गया है कि 'सम्यग्दर्शन-ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'।[22] अर्थात् सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र ये तीन परमलक्ष्य प्राप्ति के मार्ग या साधनभूत हैं। जीव का शुभत्व 'मोक्ष' है। इसीलिए भव्य जीवों का लक्ष्य मोक्ष को प्राप्त करना है। जैन दर्शन के अनुसार यही उच्चतम मूल्य है।

जैन दर्शन में नय का प्रतिपादन अपना अद्वितीय स्थान रखता है। अनेकांत (न एकांतः इति अनेकांत) दर्शन की पृष्ठभूमि पर आधृत नय की निश्चयात्मक एवं व्यावहारिक (भेदाभेद) दृष्टि वर्तमान जीवन के लिए बहुत उपयोगी एवं मूल्यवान सिद्ध हुई है। वैचारिक समानता नामक मूल्य का अनेकांत धर्म अमोल तत्त्व है।

मूल्यों के संदर्भ में जैन आगम को यदि आलोड़ित किया जाए तो उससे हमें ऐसे अनेक उच्चतम मूल्यों की प्राप्ति होती है जो हमारे दैनिक जीवन में बहुत उपयोगी और आचरण में प्रयुक्त होते हैं। 'क्षमा' जीवन का अनिवार्य अंग है। दस धर्मों में प्रथम क्षमा धर्म माना गया है। आगम की ये उक्तियां 'सव्वे जीवा खमंतु मे' तथा 'अप्पणा सच्चमेसेज्जा मैत्तिं सव्व भूएसु' प्राणीमात्र में दयालुता, मित्रता, सहिष्णुता, परस्पर सहयोग की भावना को संबंधित करने में विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। 'परस्परोपग्रहो जीवानाम' और 'आहंसु विज्जाचरण पमोक्खं' आदि सूक्तियों में दुखों से मुक्त होने के लिए ज्ञान साधना की जो बात कही है—वह अहिंसा और क्षमा जैसे मूल्यों की स्थापना से ही पूर्ण हो सकती है।

राष्ट्रीय एकता, संविभाग की भावना (समान बंटवारा), समता तथा जीवन के विज्ञान द्वारा आध्यात्मिक विकास की प्रवृत्ति को प्रेक्षाध्यान के प्रयोग से दृढ़ीभूत करना आदि मूल्यों का व्यावहारिक रूप आगमानुसार जैन साधु-साध्वियों में देखने को मिलता है। ये समस्त आगमों के सूत्र बाह्य एवं आंतरिक व्यवहार शुद्धि करने में समर्थ हैं। तनावों से मुक्ति, मन की एकाग्रता, क्रोध आदि कषायों से रहित सहज प्रवृत्ति का सृजन, बारह अनुप्रेक्षाओं द्वारा चित्त की निर्मलता तथा आत्मा के द्वारा आत्मा को देखना आदि मूल्यों की प्रतिस्थापना तथा प्राप्ति में प्रेक्षाध्यान की महत्त्वपूर्ण भूमिका देखने को मिलती है। ये सभी मूल्य आगमों में शिक्षा रूप में बिखरे पड़े हैं।

शिक्षक

'शिक्षक' के रूप में आगमप्रणीत पंच परमेष्ठी मानव मात्र के लिए उच्च आर्दश रूप हैं। अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, साधु व उपाध्याय ये पांचों धर्मशास्त्रों के उपदेशक के रूप में मान्य हैं। अतः इनके द्वारा प्रणीत आगमसूत्र मानवीय मूल्यों से युक्त हैं। शिक्षक के रूप में ये पांचों पद गुरु के स्थान को प्राप्त कर लेते हैं। गुरु के विषय में कहा गया है कि 'जो भिक्षामात्र से वृत्ति करने वाले सामायिक धर्म में सदैव रहकर धर्म का उपदेश देते हैं, वे पुरूष गुरु कहे जाते हैं—

महावृत्त धरा धीरा भैक्ष मात्रोप जीविनः।
सामायिकस्था धर्मोपदेशका गुरवो मताः।।

जैन दर्शन में आदर्श शिक्षक[24] के संबंध में कहा गया है कि जो पांच महाव्रतों का योग से स्वयं पालन करता है, दूसरों से कराता है तथा अन्य करने वालों की स्तुति करता है उसे गुरु कहा जाता है।[25] उत्तराध्ययन निर्युक्ति में

आचार्य—गुरु को दीपक के समान बताया गया है, जो स्वयं जलकर दूसरों को भी अपने ज्ञान रूपी प्रकाश से प्रकाशित करता है।[26] अरिहंत एवं सिद्ध के समान बनने, उनके गुणों को प्राप्त करने के लिए जैन धर्म में भक्ति का प्रचलन है। अतः इनके द्वारा बताए मार्ग पर चलकर परममूल्य 'मोक्ष' को प्राप्त करते हैं। आचार्य संघ का नायक है, वह उसे विकासशील बनाता है। उपाध्याय सदैव ज्ञानार्जन एवं ज्ञानदान में लगा रहता है तथा साधु अपने जीवन दर्शन से आचार-शास्त्र का उपदेश सदैव देते रहते हैं। अतः वे पंचपरमेष्ठी 'शिक्षक' रूप कहे जाते हैं।

शिक्षार्थी

महावीर की शिक्षाओं का तीसरा रूप 'शिक्षार्थी' में देखने को मिलता है। यद्यपि पंचपरमेष्ठी में उपाध्याय शिक्षक और शिक्षार्थी दोनों में कहा जाता है क्योंकि वह ज्ञानदान के साथ-साथ ज्ञानार्जन/आगम-अभ्यास में सतत प्रयत्नशील रहता है। गुरु एवं शिष्य के संबंध तथा स्वरूप पर आगम साहित्य में अनेक प्रसंग आए हैं।[27] शिक्षार्थी और शिक्षक शिक्षा रूपी रथ के दो पहिए हैं।

शिक्षार्थी के प्राथमिक गुण में 'विनयशीलता' कही जाती है। शिक्षार्थी या शिष्य पढ़ाने का पूर्ण दायित्व शिक्षक पर न सौंपकर स्वयं भी पढ़ने का, सीखने का उद्यम करे। श्रद्धावान, चारित्रनिष्ठ, व्यवहार में अनुशीलन, चिंतन-मनन करने वाला आदर्श शिष्य शिक्षार्थी कहा जाता है। कहा है—'यदि शिष्य गुणसंपन्न है, तो वह अपने आचार्य के समकक्ष माना जाता है।[28] आज्ञा और निर्देश को यथोचित पालने वाला, गुरु की प्रत्येक चेष्टाओं के अनुरूप व्यवहार वाला शिष्य विनीत कहा जाता है।[29] सरल-स्वभावी, मृदुभाषी, मितव्ययी, दोषों को प्रकट करने वाला, आत्महित का खोजी, गुरु की निंदा आलोचनादि नहीं करने वाला, अल्पभाषी, उचित समय पर बोलने वाला, क्रोध नहीं करने वाला, आत्मनियंत्रणकर्ता आदि गुण विनीत आदर्श शिक्षार्थी के कहे गए हैं।[30]

महावीर ने इस बात पर विशेष बल दिया कि शिक्षार्थी पांच व्रतों, बारह भावनाओं/अनुप्रेक्षाओं[31] तथा दस धर्मो का यथाशक्ति पालन करे। उसकी यह भावना रहे कि उसे इन सबको सीखने के पीछे अर्हत् तुल्य बनने में सफलता प्राप्त करनी है।

अतः शैक्षिक मूल्यों की प्रतिस्थापना में जैनागम साहित्य उत्कृष्ट रूप में प्राप्त होता है। शिक्षा, शिक्षक एवं शिक्षार्थी का शब्दांकन यहां किया गया। उनको यदि निष्कर्ष रूप में वर्तमान जीवन में जोड़ें तो ये इतने प्रासंगिक एवं आवश्यक प्रतीत होते हैं, जितने महावीरकाल में रहे होंगे। ये आगमोक्त शैक्षिक मूल्य जितने आदर्शवादी हैं उतने ही व्यावहारिक भी। यदि इस पर चला जाए तो शिक्षा-क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं का निश्चित ही समाधान ढूंढ़ा जा सकता है तथा मूल्यों पर आधारित शिक्षा पद्धति को विकसित कर उसका प्रायोगिक रूप समाज को दिया जा सकता है। ❖

संदर्भ :

1. तिवारी, ब्रजगोपाल—पाश्चात्य दर्शन का आधुनिक युग, पृ. 367, आगरा
2. मिश्र, हृदयनारायण एवं अवस्थी जमनालाल—नीतिशास्त्र की भूमिका, पृ. 171, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चण्डीगढ़, 1976
3. पाण्डे, गोविंदचंद्र—मूल्यमीमांसा, पृ. 252, राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1973
4. वही, पृ. 1, 3
5. आप्टे—संस्कृत-हिंदीकोश, पृ. 1015, मो. ला. ब. दा.
6. वर्णी, जिनेंद्र—जैनेंद्र सिद्धांत कोश (भाग 4), पृ. 28, भा. ज्ञानपीठ, दिल्ली
7. टॉर्स्टन हुसैन—एज्युकेशन इन द इयर 2000, नया शिक्षक (टीचर टूडे), जुलाई- सित. 1972
8. एडगर फोर—लर्निंग टु वी, द वर्ल्ड ऑफ एज्युकेशन टु डे एण्ड टुमारो, युनेस्को-हैरप स्टर्लिंग, पैरिस, लंदन, दिल्ली, 1972
9. तुलसीप्रज्ञा—मूल्यपरक शिक्षा विशेषांक के आधार पर, पृ. 131, जनवरी-मार्च, 93
10. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986—भारत सरकार (हिंदी संस्करण) के अनुच्छेद 1.14, 2.2, 3.4, 8.2, 8.5 विशेष द्रष्टव्य हैं।
11. योगदर्शन 2/13, 32
12. मनुस्मृति 4/138—सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्। प्रियं च नानृतं, ब्रूयोदेष धर्म सनातनः।।
13. डी. डी. हर्ष—महाभारत का अर्थ, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 1989 पृ. 38
14. प्रवचनसार, (कुंदकुंद)—गाथा 7
15. वही—23,
16. उत्तराध्ययनसूत्र
17. प्रश्नव्याकरणसूत्र—सत्य अधिकार
18. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये 5 यम हैं।—पातंजलयोगदर्शन 2/30
19. शौच (शुद्धता), संतोष, तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान ये 5 नियम हैं।—पातंजलयोगदर्शन 2/32

20. अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—5 महाव्रत या अणुव्रत हैं।

21. क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य 10 धर्म हैं।—तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वामि) 9/6

22. तत्त्वार्थसूत्र 1/1

23. प्रारम्भ में जैनधर्म 'निर्ग्रंथ' शब्द से जाना जाता था। किंतु मध्य युग में इसे अनेकांत धर्म से भी जाना जाता था—द्रष्टव्य है—कुवलयमालाकहा (उद्योतनसूरि)

24. प्रज्ञा प्राप्तमस्तशास्त्र हृदयः प्रव्यक्तलोकस्थितः।
प्रास्ताशः प्रतिमापरः प्रशमवान प्रागेव दृष्टत्तोरः।।
प्रायः प्रश्नसः प्रभु परमनोहारी परानिन्दया।
ब्रूयाद्धर्म्मकथां गणी गुणनिधिः प्रस्पष्टमिष्टाक्षरः।।

25. निव्वाण साहए जोए जह्या साहून्ति साहुणो।
समा य सव्व भूएसु तम्हा ते भाव साहुणो।।

26. उत्तराध्ययन निर्युक्ति, 8
जह दीवा दीवसयं पईप्पए सो य दिप्पए दीवो।
दीव समा आयरिया, अप्पं च परं च दीवन्ति।।

27. विशेष द्रष्टव्य है—उत्तराध्ययन सूत्र का प्रथम अध्ययन

28. आयरियस्स वि सीसो सव्वे हि वि गुणेहिं। —उत्तराध्ययन निर्युक्ति, 58

29. उत्तराध्ययन सूत्र 1/2

30. वही, प्रथम अध्ययन

31. अनुप्रेक्षा दो शब्दों के मेल से बना है। अनु (पुनः)+प्रेक्षा (देखना)। अतः बार-बार देखना या चिंतन-मनन करना अनुप्रेक्षा है। इन्हें भावनाएं भी कहते हैं। ये 12 कही गई हैं :
1. अनित्य अनु. 2. अन्यत्व अनु. 3. अशरण अनु.
4. अशुचित्व अनु. 5. आस्रव अनु. 6. एकत्व अनु.
7. धर्म अनु. 8. निर्जरा अनु. 9. बोधिदुर्लभ अनु.
10. लोक अनु. 11. संवर अनु. 12. संसार अनु.

❖❖

एक राजा था। वह बड़ा उदार था। अपनी प्रजा के दुख-दर्द का पूरा ध्यान रखता था। छद्म वेश में वह जनता के बीच घूमता रहता था और देखता रहता था कि उसका कोई कर्मचारी, उसकी रियाया को सता तो नहीं रहा है? भ्रष्ट आचरण तो नहीं कर रहा है? वह सादगी से रहता था और सात्त्विक जीवन बिताता था।

उसकी प्रजा बड़ी सुखी थी। धन-धान्य की कोई कमी नहीं थी। आबाल-वृद्ध, नर-नारी सब संतुष्ट थे।

एक बार पड़ोस का एक राजा उसके पास आया। उसने सारे हाल-चाल देखे तो चकित रह गया। उसने राजा से कहा, 'राजन, मैं चारों ओर शत्रुओं से घिरा हूं। मेरी प्रजा मुझे दिन-रात हैरान करती रहती है। मेरी नींद हराम हो गई है। पर आपके राज्य में लोग चैन की बंसी बजा रहे हैं। कहीं कोई हैरानी नहीं, न कोई परेशानी। इसका रहस्य क्या है?'

राजा ने उसकी ओर मुस्कराकर देखा। फिर बोला, 'राजा राज्य करता है तो प्रजा दुखी होती है। प्रजा राज्य करती है तो राजा सुखी होता है।'

उसकी बात आगंतुक की समझ में नहीं आई। पूछा, 'आपका मतलब क्या है?'

राजा ने कहा, 'राज्य राजा से नहीं, प्रजा से बनता है और उसी से चलता है। मेरे राज्य में मेरी जनता का दुख-दर्द मेरा दुख-दर्द है।'

थोड़ा चुप रहकर राजा ने आगे कहा, 'मैंने अपने राज्य में चार दरवाजे बना रखे हैं, जिन पर चार प्रहरी खड़े हैं। ये प्रहरी राज्य की भीतर-बाहर से रक्षा करते हैं। एक है सत्य, दूसरा प्रेम, तीसरा न्याय और चौथा धर्म। ये हर घड़ी जागते और लोगों को जगाते रहते हैं।'

अब पड़ोसी राजा को सुराज्य के रहस्य का पता चला। उसकी आंखें खुल गईं।

—यशपाल जैन

अनुभूति

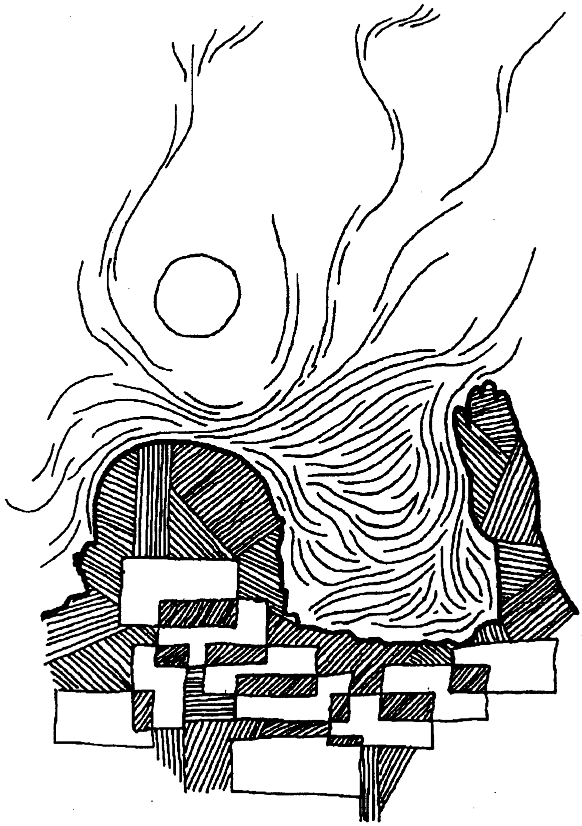

भभकती रेत; नंगे पैर
या पूनो; दुकेले सैर
पैरों के लिए कुछ भी नहीं है भिन्न
चाहे आएं चाहे जाएं
पग हर एक दुख का भार उतना ही उठाता है :
समय की रेत पर मेरे (बड़ों के) पदतलों के चिह्न
चाहे अमिट भी हो जाएं
यानी हवा पानी या किलकती बालिकाओं
का सुघर खिलवाड़,
टस से मस न उनको कर सके
तो भी चरण के चिह्न अपनी दाब की
गहराइयों में
क्या कहीं यह भी लिखा-सा छोड़ जाएंगे
कि ऐसे रेत में चलना थकाता है?

—रघुवीर सहाय

जरूरी है दर्शन की सीमा का विस्तार

आचार्यश्री महाप्रज्ञ

अचेतन कभी चेतन नहीं होता और चेतन कभी अचेतन नहीं होता। जैन दर्शन इस सार्वभौम नियम के द्वारा विश्व को देखने और उसकी व्याख्या करने का एक दृष्टिकोण है।

सत् की अनेक व्याख्याएं हैं। उमास्वाति ने सत्य की त्रयात्मक व्याख्या की है। उनके अनुसार उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की समन्विति सत् है। चेतन भी सत् है और अचेतन भी सत् है। जीव अतीत में था, वर्तमान में है और भविष्य में रहेगा, इसका हेतु ध्रौव्य का नियम है। अपरिवर्तनीय स्वरूप की व्याख्या उसी के आधार पर की जा सकती है। उत्पाद और व्यय—यह परिवर्तन का नियम है। इसके आधार पर द्रव्य के परिवर्तनीय स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है।

चेतन अथवा जीव, अचेतन अथवा अजीव से भिन्न है। यह अध्यात्म का मौलिक आधार है। जीव द्रव्य भी परिवर्तन के नियम से मुक्त नहीं है, इसलिए उसके नानारूप बन जाते हैं। उनमें कुछ रूप अध्यात्म के साधक हैं और कुछ बाधक। राग-द्वेष आदि बाधक तत्त्वों से मुक्ति पाने के लिए वीतरागता की साधना की जा सकती है। यह वीतरागता अध्यात्म का मौलिक स्वरूप है।

समाज की प्रवृत्ति रागात्मक है। मनुष्य के विकास का माध्यम है—इंद्रिय समूह। वह ज्ञानात्मक है, साथ-साथ पदार्थ जगत के आकर्षण का माध्यम भी है। इसलिए समाज अथवा व्यक्ति की व्याख्या एकांत दृष्टिकोण से नहीं की जा सकती।

भारतीय मनीषियों ने पदार्थवादी दृष्टिकोण को ससीम रखने के लिए आध्यात्मिक चेतना का विकास किया। जैन दर्शन में तत्त्वविद्या और अध्यात्म—दोनों परस्पर संश्लिष्ट हैं। तत्त्वविद्या से विश्व स्थिति का यथार्थबोध होता है। उस बोध की निष्पत्ति भौतिक विकास और आध्यात्मिक विकास—दोनों दिशाओं में हो सकती है। अनेकांत दृष्टि के अनुसार भौतिक विकास को सर्वथा नकारा नहीं गया। उसे जीवनयात्रा के पूरक तत्त्व के रूप में स्वीकृति दी गई। फलस्वरूप आध्यात्मिक विकास जीवन का लक्ष्य बन गया। सभी आत्मवादी दर्शनों ने अध्यात्म को प्रतिष्ठित किया, वह भारतीय चिंतन एक अमूल्य धरोहर बन गया।

वैज्ञानिक चिंतन और आविष्कार के बाद विकास की अवधारणा इतनी जटिल हो गई है कि पीछे लौटना भी संभव नहीं और पीछे लौटे बिना सभ्यता पर छाए हुए संकट के बादलों का बिखरना भी संभव नहीं। तकनीकी विकास पर भी विवेकपूर्वक अंकुश लगाना जरूरी है। क्या वह तकनीकी विकास उपादेय है जो मानव की अस्मिता पर प्रश्नचिह्न लगा रहा है? हमें मुड़कर देखना होगा कि सीमातीत तकनीकी विकास के बाद मनुष्य ने क्या खोया और क्या पाया? मानसिक शांति, तनावमुक्त मन:स्थिति, स्वास्थ्य पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है? इसे उपेक्षित कर तकनीकी विकास को एकाधिकार प्रभुत्व नहीं दिया जा सकता।

दर्शन को केवल तत्त्वविद्या तक सीमित करना उचित नहीं है। विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र आदि दर्शन के वटवृक्ष की मात्र शाखाएं हैं। उनकी अपनी कोई जड़ नहीं है। दार्शनिक दृष्टि समाजविज्ञान और अर्थशास्त्र के लिए जितनी जरूरी है, उतनी ही विज्ञान के लिए जरूरी है। दर्शन और विज्ञान को सर्वथा पृथक करना दर्शन और विज्ञान दोनों के विकास में एक अवरोध है।

जैन दर्शन ने सृष्टि और सृष्टि-संचालन के लिए किसी ईश्वरीय सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। इसलिए उसने सार्वभौम और सामयिक नियमों की खोज की है। उसी के आधार पर विश्व-व्यवस्था की व्याख्या की है।

चेतन और अचेतन में सर्वथा भिन्नता का सिद्धांत अनेकांत के अनुसार समीचीन नही हैं। भौतिक विज्ञान ने विश्व-व्यवस्था के अनेक नियमों की खोज की है और प्राचीनकाल में दर्शनों ने भी की। नियमों की

खोज सत्य की खोज है। इसलिए हम दर्शन और विज्ञान के बीच कोई लक्ष्मणरेखा नहीं खींच सकते। दार्शनिक जगत ने चेतन और अचेतन—दोनों के नियमों की खोज की। विज्ञान जगत की खोज का अब तक मुख्य विषय है—अचेतन द्रव्य (पुद्‌गल द्रव्य) के नियमों की खोज।

योग और अध्यात्म दर्शन की सीमा से परे नहीं हैं। ये दोनों भारतीय दर्शन के मौलिक आधार रहे हैं। नियमों की खोज के लिए स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाना नितांत आवश्यक है। योगी और अध्यात्म-साधक ध्यान और समाधि के द्वारा अतींद्रिय चेतना का विकास कर लेते थे। उस अतींद्रिय चेतना के आधार पर सूक्ष्म सत्यों की खोज की जाती थी। वैज्ञानिक सूक्ष्म नियमों की खोज सूक्ष्म यंत्रों के माध्यम से करते हैं। आखिर प्रस्थान दोनों का सूक्ष्म की ओर है। दार्शनिक जगत के पास परीक्षण के लिए कोई प्रयोगशाला नहीं है। वैज्ञानिक को उसकी सुविधा प्राप्त है। किंतु इस प्रसंग में हमें स्वीकार करना चाहिए—योग और अध्यात्म के साधकों ने इंद्रियपटुता और अतींद्रिय चेतना का इतना विकास किया था कि उन्हें यांत्रिक प्रयोगशाला की अपेक्षा ही नहीं रही।

'णाणस्स सारमायारो'—ज्ञान का सार है—आचरण। निर्युक्तिकार का यह अभिमत दर्शन और आचार की एकता का सेतु है। 'मूल्यपरक विज्ञान' इसमें संगति खोजना बहुत कठिन है। दर्शन के आधार पर आचार-संहिता का निर्माण हुआ है, किंतु विज्ञान के आधार पर कोई संहिता नहीं बनी। वैज्ञानिक नियमों की खोज तक सीमित हो गए हैं। उसका सार आचार है, यह सचाई उन्हें अभी मान्य नहीं है। यदि यह सचाई मान्य होती तो संहारक अस्त्रों का निर्माण कभी नहीं होता, प्रकृति का असीम दोहन भी नहीं होता, गरीबी को बढ़ाने वाली सुविधावादी सामग्री का केवल व्यावसायिक हित के लिए निर्माण भी नहीं किया जाता।

योग अथवा अध्यात्म का प्रमुख आधार है—अहिंसा। वह आधार भी है और आचरण भी। पर्यावरण की समस्या इसलिए है कि समाज अहिंसा की व्यापकता का अनुभव नहीं कर रहा है। किसी प्राणी को मत मारो, यह अहिंसा की सीमा नहीं है। शस्त्र का निर्माण मत करो, यह भी उसकी सीमा नहीं है। अंहिसा का व्यापक स्वरूप है—संयम की चेतना का निर्माण। हम पर्यावरण को विशुद्ध करने और नि:शस्त्रीकरण का प्रयत्न करते हैं, किंतु चेतना के रूपांतरण का प्रयत्न नहीं करते। क्या चेतना का रूपांतरण किए बिना प्रकृति का अति दोहन, पर्यावरण का प्रदूषण और शस्त्रों का निर्माण रोका जा सकता है?

उपभोग की चेतना का रूपांतरण किए बिना प्रकृति के अतिदोहन को रोका नहीं जा सकता।

सुविधावादी और विकास के असंतुलित दृष्टिकोण को बदले बिना, जीवन-निर्वाह के लिए अपोषक उपभोग सामग्री के उत्पादन की सीमा करने वाली चेतना का विकास किए बिना पर्यावरण के प्रदूषण पर रोक लगाना संभव नहीं है।

जैन दर्शन के अनुसार भावधारा शस्त्र-निर्माण का मूल आधार है। भाव का केंद्र है मस्तिष्क। शस्त्र पहले मस्तिष्क में पैदा होता है, फिर वह कारखाने में। नि:शस्त्रीकरण के लिए सबसे पहले जरूरी है भावतंत्र का परिष्कार और मस्तिष्कीय प्रशिक्षण। इसके बिना नि:शस्त्रीकरण की चर्चा बहुत सार्थक नहीं होगी।

वैज्ञानिक चिंतन और आविष्कार के बाद विकास की अवधारणा इतनी जटिल हो गई है कि पीछे लौटना भी संभव नहीं और पीछे लौटे बिना सभ्यता पर छाए हुए संकट के बादलों का बिखरना भी संभव नहीं। तकनीकी विकास पर भी विवेकपूर्वक अंकुश लगाना जरूरी है। क्या वह तकनीकी विकास उपादेय है जो मानव की अस्मिता पर प्रश्नचिह्न लगा रहा है? हमें मुड़कर देखना होगा कि सीमातीत तकनीकी विकास के बाद मनुष्य ने क्या खोया और क्या पाया? मानसिक शांति, तनावमुक्त मन:स्थिति, स्वास्थ्य पर उसका क्या प्रभाव पड़ रहा है? इसे उपेक्षित कर तकनीकी विकास को एकाधिकार प्रभुत्व नहीं दिया जा सकता।

विश्वशांति, एक मानव परिवार, निःशस्त्रीकरण—इन शब्दों का बार-बार पुनरुच्चारण होता रहता है। यदि शब्दोच्चार मात्र से विश्वशांति स्थापित होती तो कभी की हो जाती। इन शब्दों की पुनरावृत्ति कोई बुरी बात नहीं है, बहुत अच्छी है, किंतु इसके साथ विश्वशांति के बाधक तत्त्वों पर गंभीर चिंतन जरूरी है। उसके बाधक तत्त्वों की एक संक्षिप्त तालिका यह हो सकती है—

- साम्राज्यवादी मनोवृत्ति
- बाजार पर प्रभुत्व
- जाति का अहंकार
- सांप्रदायिक कट्टरता
- उपभोग सामग्री की विषमतापूर्ण अवस्था और व्यवस्था

इसमें भी अधिक मूल कारण है व्यक्ति का अपने संवेगों पर नियंत्रण न होना। संवेग संतुलन के व्यापक प्रचार

और प्रयोग पर गहन विचार किए बिना वैज्ञानिक युग में उपजी हुई समस्याओं का समाधन नहीं किया जा सकता।

परिष्कार के लिए शिक्षा प्रणाली पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। केवल हिंदुस्तान में ही नहीं, पूरे विश्व में। इस विषय में प्राकृत साहित्य का एक सुंदर निर्देश है—शिक्षा दो उद्देश्यों की पूर्ति के लिए होनी चाहिए : 1. आजीविका की समस्या को सुलझाने के लिए।, 2. सद्गति के लिए।

सद्गति का अर्थ है जीवनमूल्यों अथवा चारित्रिक मूल्यों का विकास। इसके अभाव में समाज में सद्गति की अनुभूति नहीं होती, स्वस्थ समाज की रचना नहीं होती। जैन चिंतन में शिक्षा के दो प्रकार बतलाए गए हैं—1.ग्रहण शिक्षा, 2. आसेवन शिक्षा।

गुरु अथवा शिक्षक की वाणी अथवा पुस्तक से प्राप्त होने वाला ज्ञान ग्रहण शिक्षा है। आसेवन शिक्षा प्रायोगिक शिक्षा है। विज्ञान के अनेक क्षेत्रों में प्रायोगिक शिक्षा चालू है। किंतु मानवीय चेतना को बदलने वाली प्रायोगिक शिक्षा विज्ञान के क्षेत्र में भी चालू नहीं है। चारित्रिक मूल्यों के विकास के लिए जरूरी है मूल्य चेतना को नियंत्रित करने वाली प्रायोगिक शिक्षा। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अणुव्रत प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में जीवन विज्ञान की प्रणाली विकसित की गई। चेतना का रूपांतरण करने के लिए आसन, प्राणायाम, ध्यान, भावना और अनुप्रेक्षा—इनका प्रायोगिक अभ्यास नितांत अपेक्षित है। यह विज्ञान के छात्र के लिए भी उतना ही आवश्यक है, जितना कला-संकाय के छात्र के लिए।

पदार्थाभिमुखता भौतिकवाद का एक प्रमुख लक्षण है। वर्तमान युग में उसका स्थान तकनीकी अभिमुखता ने ले लिया है। यदि उसकी सीमाएं निर्धारित न की जाएं तो सांस्कृतिक मूल्यों को बचाना संभव नहीं। उन मूल्यों की सुरक्षा के लिए दर्शन की सीमाओं का विस्तार करना होगा। आज का दार्शनिक चिंतन युग की समस्याओं को सुलझाने का कोई नया चिंतन प्रस्तुत नहीं कर रहा है, इसीलिए विज्ञान का एकाधिकार प्रभुत्व स्थापित हो रहा है।

प्रत्येक द्रव्य के अनंत पर्याय हैं। हम उनमें से कुछ पर्यायों को जानते हैं। इसलिए द्रव्य ज्ञेय कम और अज्ञेय अधिक हैं। अज्ञात पर्यायों को ज्ञात बनाने के लिए निरंतर खोज की जरूरत है। दर्शन में एक प्रकार का ठहराव आ गया है। वह अपने पूर्वज दार्शनिकों द्वारा खोजे गए सत्यांशों (नय दृष्टि) को परिपूर्ण सत्य मानकर संतोष की सांस ले रहा है। जीवविज्ञान, कर्मवाद, भाग्यवाद, पुरुषार्थवाद आदि की मान्यताओं पर विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में विचार करना बहुत आवश्यक है। विज्ञान जगत में जिन सूक्ष्म नियमों की खोज हुई है, उनका दार्शनिक दृष्टि से अंकन करना बहुत जरूरी है। गरीबी, शोषण, अपराध, बीमारी, हत्या, आत्महत्या, भ्रूणहत्या, आतंकवादी मनोवृत्ति—क्या ये दर्शन के चिंतन-बिंदु नहीं हैं? हम विज्ञान की उस गति का समर्थन नहीं कर सकते, जिसके द्वारा खोजे हुए नियम विश्व के सामने एक संकट पैदा किए हुए हैं। हम दर्शन के द्वारा खोजे गए उन नियमों को विस्तार देने का प्रयत्न करें, जो विश्व को मैत्री के सूत्र में बांध सकें, महावीर वाणी का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त इस दिशा में इंगित कर रहा है।

अप्पणा सच्चमेसेज्जा मेत्तिं भूएसु कप्पए।

स्वयं सत्य खोजें, सबके साथ मैत्री करें।

विज्ञान की सीमा वस्तु है। दर्शन चेतना-प्रधान है। विज्ञान को चेतना में घटित घटना मान्य नहीं है और दर्शन का पदार्थ में घटित होने वाली घटनाओं से संबंध नहीं है। इसलिए इन दोनों की पारस्परिक पूरकता का विकास होना चाहिए। इससे वैश्विक समस्याओं के समाधान में बहुत बड़ा योग मिल सकता है। ❖

आत्म-शुद्धि किसी स्थान, संस्थान, व्यक्ति या विचारधारा से अनुबंधित नहीं है। आत्मशोधन के साथ यश, प्रतिष्ठा या प्रसिद्धि की कामना भी टिक नहीं पाती। आत्म-शुद्धि के अभियान में प्रस्थित साधक किसी के प्रति विद्रोह भी नहीं कर सकता। उसे जो करना होता है, करता है। अपने कार्य में उसके सामने अनेक बाधाएं और विपदाएं भी आकर खड़ी होती हैं, किंतु उनके समक्ष वह कभी घुटने नहीं टेकता। उसकी यह आस्था होती है कि जिस प्रकार सोना कसौटी पर कसा जाने के बाद निखार पाता है, वैसे ही संघर्षों की आग में तपकर सत्य निखरता है।

—आचार्यश्री तुलसी

महावीर का शिक्षादर्शन

साध्वीप्रमुखा कनकप्रभा

जीवन में सर्वोत्तम तत्त्व क्या है? यह एक प्रश्न अपने परिपार्श्व में उत्तरों की लंबी शृंखला को समेटे हुए है। भौतिक उपलब्धियों में ही जीवन की सार्थकता खोजने वाला व्यक्ति दैहिक सुख और बाहरी समृद्धि को सबसे ऊंचा दर्जा देता है। समाज के स्तर पर जीने वाला व्यक्ति सामाजिक विकास और पारिवारिक अनुकूलता की मूल्यवत्ता स्वीकार करता है। वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण वाला व्यक्ति अज्ञात को ज्ञात करके अतिरिक्त आनंद की अनुभूति करता है। आध्यात्मिक परिवेश में जीने वाला व्यक्ति जीवन की पवित्रता को सर्वोत्तम मानता है। इस प्रकार और भी अनेक दृष्टियां हो सकती हैं, जो भिन्न-भिन्न कोणों से व्यक्ति, वस्तु और परिस्थिति का मूल्यांकन करती हैं।

जैन दर्शन में उत्तम तत्त्वों का आकलन किया गया है। उसके अनुसार इस लोक में चार तत्त्व उत्तम हैं—अर्हत्, सिद्ध, साधु और अर्हतों द्वारा प्रतिपादित धर्म। भगवान महावीर अर्हत् थे। अर्हत् वह होता है, जो मनुष्य जीवन की संपूर्ण अर्हताओं को हस्तगत कर लेता है। महावीर कुछ अर्हताएं साथ लेकर धरती पर आए थे। उनकी शारीरिक अर्हता का प्रथम परिचय इंद्र को मिला। जन्म के तत्काल बाद उनका जलाभिषेक करने के लिए इंद्र उन्हें मेरु पर्वत पर ले गया। एक हजार आठ मंगल कलश लेकर देव खड़े थे। इंद्र आशंकित हो गया कि यह बालक जल का इतना भार कैसे सहेगा? बालक अतींद्रियज्ञानी था। इंद्र की आशंका को निरस्त करने के लिए उसने बाएं पैर के अंगूठे से मेरु पर्वत को दबाया। पर्वत की चूलें हिल उठीं। इंद्र की शंका का समाहार हुआ। महावीर की अलौकिक क्षमता का साक्षात्कार कर इंद्र अपने भाव जगत में उनके प्रति प्रणत हो गया।

ग्रहण शिक्षा का संबंध ज्ञान को आवृत करने वाले संस्कार को क्षीण करने से है और आसेवन शिक्षा का संबंध चेतन में घुली हुई विकृति को धो-पौंछकर साफ करने से है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली से ग्रहण शिक्षा का प्रयोजन तो फलित हो रहा है, किंतु आसेवन शिक्षा की बात गौण हो रही है। यही कारण है कि इस युग के विद्यार्थी देश-विदेश की नवीनतम सूचनाओं से परिचित रहते हैं, पर उनके चरित्र का स्तर विकसित नहीं हो पाता।

शिक्षक दिवस पर विशेष-4

महावीर की प्रतिभा विलक्षण थी। उनके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम विशिष्ट था। वे बहुत कुछ जानते थे, पर अपने ज्ञान का ढिंढोरा नहीं पीटते थे। आठ वर्ष की अवस्था पार करने के बाद माता-पिता ने शिक्षा की व्यवस्था की। वे पढ़ने के लिए गए। अध्यापक ने व्याकरण पढ़ाया। महावीर के लिए कुछ भी नया नहीं था। इंद्र के लिए वह स्थिति असह्य हो गई। इंद्र रूप बदल कर वहां आया। उसने कुछ गंभीर प्रश्न पूछे। महावीर ने हर प्रश्न का सटीक उत्तर दिया। अध्यापक विस्मय-विमुग्ध हो गया। महावीर की शैक्षिक अर्हता से अभिभूत होकर अध्यापक ने उनको पूरा अवकाश दे दिया। महावीर शिक्षार्थी से सीधे शिक्षक बन गए।

शिक्षा के दो आयाम

महावीर के व्यक्तित्व में अवगाहन करते समय मन में एक जिज्ञासा उभरी कि एक जन्मजात शिक्षक की शिक्षा के बारे में क्यां अवधारणा है? इस प्रश्न को समाहित करने के लिए महावीर के शिक्षा सूत्रों को संजोकर रखने वाले ग्रंथ खोले। जिज्ञासा के पंछी को उड़ने के लिए नया आकाश उपलब्ध हो गया। उस आकाश में उड़ान भरते समय अनुभव हुआ कि शिक्षा के क्षेत्र में महावीर का एक संपूर्ण दर्शन है। जब तक उस दर्शन को समझने का प्रयास नहीं होगा, महावीर की शिक्षा विषयक अवधारणा को पकड़ा नहीं जा सकेगा।

महावीर ने शिक्षा के दो रूप बतलाए—ग्रहण शिक्षा और आसेवन

शिक्षा। सूत्र पाठ का शुद्ध उच्चारण और उसका सम्यक् अर्थबोध ग्रहण शिक्षा की सीमा में है। जो कुछ सुना, समझा और याद किया, उसको जीवन व्यवहार के साथ जोड़ना आसेवन शिक्षा है। करणीय कार्य का आचरण और अकरणीय कार्य का वर्जन आसेवन शिक्षा की निष्पत्ति है।

ग्रहण शिक्षा का संबंध ज्ञान को आवृत करने वाले संस्कार को क्षीण करने से है और आसेवन शिक्षा का संबंध चेतन में घुली हुई विकृति को धो-पौंछकर साफ करने से है। वर्तमान शिक्षा प्रणाली से ग्रहण शिक्षा का प्रयोजन तो फलित हो रहा है, किंतु आसेवन शिक्षा की बात गौण हो रही है। यही कारण है कि इस युग के विद्यार्थी देश-विदेश की नवीनतम सूचनाओं से परिचित रहते हैं, पर उनके चरित्र का स्तर विकसित नहीं हो पाता।

शिक्षा का प्रयोजन

शिक्षा प्राप्ति का उद्‌देश्य क्या है? इस विषय में भगवान महावीर ने अनेक दृष्टियों से प्रतिपादन किया है। ज्ञान की वृद्धि, चित्त की एकाग्रता, धर्म में अवस्थिति और अन्य व्यक्तियों का धर्म में अवस्थापन—इस उद्‌देश्य-चतुष्टयी के साथ श्रुतसागर में अवगाहन करना महावीर के शिक्षादर्शन में सम्मत माना गया है।

अध्यात्म की दिशा में प्रस्थान करने वाले व्यक्ति का अंतिम लक्ष्य होता है—परम अर्थ (मोक्ष) की खोज। मोक्ष की यात्रा एक जीवन में ही पूरी हो जाए, ऐसी अनिवार्यता नहीं है। एक जीवन की संपूर्ति के बाद प्रारंभ होने वाले दूसरे जीवन में लक्ष्य की प्रतिबद्धता बनी रहे, इस दृष्टि से उपचित कर्मों का क्षय और नए कर्मों का निरोध आवश्यक है। यह तभी संभव है जब ज्ञानोपलब्धि के नए-नए क्षितिज खुलते रहें और चेतना के आवरण की सघनता कम होती रहे।

मानवीय मस्तिष्क के दो पटल हैं। दाएं पटल के विकास से अनुशासन, धैर्य, सहनशीलता, सामंजस्य, अंतर्मुखता आदि आध्यात्मिक गुण पल्लवित होते हैं। बाएं पटल के विकास से भाषा, तर्क, गणित, साहित्य आदि व्यावहारिक एवं लौकिक ज्ञान में वृद्धि होती है। लौकिक शिक्षा का उद्देश्य सीधे रूप में मनुष्य की जीविका के साथ जुड़ा हुआ है। इसके लिए केवल बौद्धिक विकास पर्याप्त हो सकता है, किंतु भावनात्मक विकास के अभाव में शिक्षा अधूरी रहती है। विद्यार्थी के सर्वांगीण व्यक्तित्व को विकसित करने के लिए शिक्षा के चारों अंगों—शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक आयामों को सापेक्ष मानकर प्रशिक्षण की व्यवस्था की जानी चाहिए।

भगवान महावीर ने श्रुत-ग्रहण के कारणों की मीमांसा करते हुए पांच बिंदुओं की चर्चा की है—

णाणट्ठयाए — अभिनव तत्त्वों की उपलब्धि।

दंसणट्ठयाए — श्रद्धा की पुष्टि।

चरित्तट्ठयाए — आचार की विशुद्धि।

वुग्गहमोयणट्ठयाए — दूसरों को मिथ्या अभिनिवेश से मुक्त करना।

अहत्थे वा भावे जाणिस्सामि — यथार्थ भावों की अवगति।

महावीर-दर्शन का प्रभाव

महावीर का शिक्षादर्शन सार्वदेशिक और सार्वकालिक शिक्षादर्शन है। उन्होंने हजारों वर्ष पहले जिन तथ्यों का प्रतिपादन किया, वे आज भी प्रकाशदीप बनकर युगचिंतन को दिशादर्शन दे रहे हैं। महात्मा गांधी ने शिक्षा के उद्‌देश्य को उद्‌भासित करते हुए कहा—'बालक के शरीर, मन और आत्मा में जो कुछ श्रेष्ठ है, उसका प्रस्फुटन ही शिक्षा की सार्थकता है। आत्मा के संस्कार बिना सब शिक्षा बेकार ही नहीं घातक भी है। स्वावलंबन शिक्षा की सही कसौटी है।'

रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनुसार शिक्षा का उद्‌देश्य है—आत्मा का स्वातंत्र्य और अंतिम दिशा में अग्रसर करना। बालक उन कौशलों से सुसज्जित हो सके, जिनसे जीवन आनंदमय बनाया जा सके।

भारतीय चिंतकों की तरह पाश्चात्य विचारक महावीर के शिक्षादर्शन से सहमति प्रकट करते हैं। पाब्लो फ्रेरे का अभिमत है कि सच्चा संप्रेषण ही सच्ची शिक्षा है। संप्रेषण के लिए संवाद जरूरी है। संवाद भी ऐसा जिसमें आशा, धैर्य, विश्वास, इच्छाशक्ति, उत्साह, ईमानदारी, विवेक, संयम और आत्मविश्वास की पूर्णता हो।

शिक्षा की अर्हता

शिक्षा का अधिकारी कौन? इस प्रश्न की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में विशेष मूल्यवत्ता प्रतीत नहीं होती। आज हर व्यक्ति के.लिए शिक्षा की अनिवार्यता स्वीकार की जा रही है। इसका तात्पर्य साक्षर होने तक सीमित हो तो सबके लिए शिक्षा की बात बुद्धिगम्य हो जाती है। अक्षर-बोध और सामान्य ज्ञान की भूमिका तक पहुंचे बिना व्यक्ति कहीं भी प्रताड़ित हो सकता है, इसलिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी आवश्यक है। उच्च शिक्षा का जहां तक सवाल है, वहां व्यक्ति को योग्यता के आधार पर अवसर मिलना चाहिए। चालू शिक्षा व्यवस्था में योग्यता का मानदंड परीक्षा को माना जाता है। यह लौकिक

शिक्षा का क्रम है। लोकोत्तर या आध्यात्मिक शिक्षा की अर्हता महावीर के शिक्षादर्शन में प्रतिपादित है।

जो सदा गुरुकुल में वास करता है, जो एकाग्र होता है, जो उपधान तप करता है, जो प्रिय व्यवहार करता है और जो प्रिय बोलता है, वह शिक्षा प्राप्त करने का अधिकारी है।

जो आचार्य और उपाध्याय की शुश्रूषा करता है, उनकी आज्ञा पालन के लिए तत्पर रहता है, उसकी शिक्षा वैसे ही बढ़ती है जैसे जल-सिंचन से वृक्ष।

गुरु का अतिशय विनय करने वाला, देश और काल के अनुरूप उनकी अपेक्षाओं की पूर्ति करने वाला, उनकी चित्तवृत्ति को समझने वाला और उनके अनुकूल वर्तन करने वाला शिष्य सम्यक् श्रुत को प्राप्त करता है।

जो शिष्य विनीत होता है। बद्धांजलि होकर गुरु से बात करता है, गुरु के अभिप्राय का अनुवर्तन करता है और गुरुजनों की आराधना करता है, उसे गुरु विविध प्रकार की शिक्षा से संपन्न कर देता है।

योग्य विद्यार्थी के लक्षण

कौन विद्यार्थी अर्हता-संपन्न है और कौन नहीं, यह निर्णय करना सरल काम नहीं है। जिस दिन विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए उपस्थित होता है अथवा आवेदन करता है, उस समय उसे पहचानना काफी कठिन होता है। ऐसी स्थिति में बहुत बार अयोग्य व्यक्तियों का चयन हो सकता है। महावीर दर्शन में शिक्षा के योग्य विद्यार्थी के आठ लक्षण बताए गए हैं।

- जो हास्य नहीं करता।
- जो इंद्रियों और मन पर नियंत्रण रखता है।
- जो किसी के गोपनीय प्रसंग का प्रकाशन नहीं करता।
- जो चरित्र से हीन नहीं होता।
- जो अपने चरित्र को दोषों से कलुषित नहीं करता।
- जो खाने-पीने के पदार्थों के प्रति लोलुप या आसक्त नहीं होता।
- जो किसी भी स्थिति में क्रोध नहीं करता।
- जो सदा सत्यनिष्ठ रहता है।

अहंकार, क्रोध, प्रमाद, रोग और आलस्य शिक्षा-प्राप्ति में बाधक तत्त्व हैं। इनसे बचने वाला विद्यार्थी विनीत, क्षमाशील, अप्रमत्त, स्वस्थ और पुरुषार्थी होता है। सुविनीत शिष्य के लक्षणों की मीमांसा करते हुए बताया गया है—

जो नम्र व्यवहार करता है, चपलता से दूर रहता है, माया का प्रयोग नहीं करता, कुतूहलप्रिय नहीं होता, किसी का अनादर नहीं करता, क्रोध को टिकाकर नहीं रखता, हित-संपादन करने वालों के प्रति कृतज्ञ रहता है, ज्ञान प्राप्त कर के मद नहीं करता, स्खलना होने पर भी किसी का तिरस्कार नहीं करता, मित्रों के प्रति क्रोध नहीं करता, अप्रिय मित्र की भी एकांत में प्रशंसा करता है, कलह और हाथापाई से दूर रहता है, कुलीन होता है, लज्जावान होता है और इंद्रियों तथा मन का गोपन करना जानता है, वह विनीत होता है।

शिक्षा की कसौटी

पोथी पढ-पढ जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम के, पढ़े सो पंडित होय।।

कबीर की वाणी में पंडित की जो परिभाषा है, वह शिक्षा की सही कसौटी है। स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर की पढाई की, परीक्षा अच्छे अंकों से उत्तीर्ण की, डिग्रियां प्राप्त कर लीं, पर जब तक प्रेम, करुणा, मैत्री, समता, सहिष्णुता और संतुलन का विकास नहीं होता है, तब तक आसेवन शिक्षा हस्तगत नहीं हो पाती। जब तक चरित्र-निर्माण का कार्य संपन्न नहीं होता, शिक्षा की सार्थकता नहीं हो सकती। इस दृष्टि से यह तथ्य उजागर होता है कि शिक्षा का मूल्यांकन इस बात से किया जाना चाहिए कि व्यक्ति क्या करता है? वह क्या जानता है, यह मूल्यांकन का आधार नहीं हो सकता।

देश के लिए शिक्षा-संस्थानों के परिसरों में आज जो संस्कृति और सभ्यता पल रही है, वह भारतीय परंपरा या जीवनशैली की संपोषक नहीं है। इस विसंगति के बावजूद आधुनिकीकरण और वैज्ञानिकीकरण के जो वातायन खुल रहे हैं, उन्हें अनदेखा नहीं किया जा सकता। अपेक्षा इतनी-सी है कि विद्यार्थी यहीं रुके नहीं। यह हमारी मंजिल नहीं है, मध्यवर्ती पड़ाव है, इस सचाई को समझ कर आगे बढने वाला अपने सर्वांगीण व्यक्तित्व का निर्माण करने में सफल हो सकता है।

जो ज्ञान अहंकार को विगलित करता है और विवेक चेतना को जगाता है, वही ज्ञान व्यक्तित्व को संवारता है। जो ज्ञान आवेगों एवं संवेगों को नियंत्रित करता है और सामुदायिक हितों की सुरक्षा करता है, वही ज्ञान उपयोगी बनता है। ज्ञानी होना कोई बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है, उपलब्धियों के शिखर पर आरोहण वह करता है, जो ज्ञान के साथ आचरण को उदात्त बनाने की कला मे दक्ष हो जाता है। यह महावीर के शिक्षादर्शन का सार है। 'णाणस्स सारमायारो' ज्ञान का सार आचार है, इस आस्था वाक्य को आदर्श मान कर शिक्षित और साक्षर के बीच भेदरेखा खींची जा सकती है। ❖

हिंदी के प्रसार में तेरापंथ का योगदान

साध्वी निर्वाणश्री

भारतीय संस्कृति की दो मुख्य धाराएं हैं—श्रमण और ब्राह्मण। दोनों धाराओं से निकलने वाली शत-शत धाराओं ने इस सभ्यता और संस्कृति को अभिषिक्त किया है। श्रमणों के पांच मुख्य आम्नायों में एक आम्नाय है निर्ग्रंथ। इसी निर्ग्रंथ आम्नाय को आगे चलकर जैन नाम से पहचाना गया है। वर्तमान में इसका जैन नाम अधिक प्रचलित और निर्ग्रंथ नाम कम प्रचलित है। जैनों के अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर ने अपना उपदेश जनभाषा में दिया। वे समाज के अंतिम व्यक्ति तक अपनी बात पहुंचाना चाहते थे, इसीलिए उन्होंने ऐसा किया। उनका विहरण स्थल मुख्य रूप से मगध जनपद था, अतः अर्द्धमागधी प्राकृत को अपने उपदेश का आधार बनाया। महाराष्ट्री, शौरसेनी, अपभ्रंश आदि प्राकृत के अन्य रूप हैं। अपभ्रंश को हिंदी भाषा की जननी होने का गौरव प्राप्त है।

संपूर्ण भारत की भाषा

विक्रम की सातवीं-आठवीं सदी में हिमालय की तराई से लेकर गोदावरी तक और सिंध से ब्रह्मपुत्र तक संपूर्ण भारत में इसका एकछत्र राज्य था। जैन मनीषियों ने इसे अपनी लेखनी का विषय बनाया और उत्कृष्ट कोटि की रचनाएं कीं। कथा, स्तोत्र आदि से लेकर चरितकाव्य, खंडकाव्य और महाकाव्य तक इसमें लिखे गए। रासो साहित्य का उसमें प्राधान्य रहा। विक्रम की सतरहवीं शताब्दी तक यह प्रवाह अनवरत रूप से चलता रहा। तत्पश्चात् हिंदी का जो स्वरूप निर्धारित हुआ, उसे आदिम अथवा प्राचीन हिंदी कहना अधिक उपयुक्त होगा। इस हिंदी में प्रादेशिक भाषाओं का प्रभाव भी स्पष्ट रूप से जुड़ता रहा।

आज बहुत-से लोगों का मंतव्य है कि अच्छे अध्ययन के लिए अंग्रेजी माध्यम आवश्यक है। उच्चतर अध्ययन के लिए तो वह अनिवार्यता की स्थिति तक पहुंच गया है। तेरापंथ धर्मसंघ द्वारा संस्थापित जैन विश्वभारती मान्य विश्वविद्यालय ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि हिंदी माध्यम से भी उच्चतर अध्ययन भलीभांति पूरा किया जा सकता है। उसके

हिंदी दिवस पर विशेष

गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए हमें स्वयं संकल्पित होना होगा। इसी बात का एक दूसरा बड़ा प्रमाण है जैन विश्व भारती द्वारा प्रकाशित विशाल आगम साहित्य। प्राकृत और संस्कृत भाषा में निबद्ध इस साहित्य का जो रूप आचार्य तुलसी के वाचना प्रमुखत्व और आचार्य महाप्रज्ञजी के विवेचन से हिंदी भाषा में आया है, वह विश्व साहित्य की अनुपम धरोहर है।

तेरापंथ की क्रांति

विक्रम की 19 वीं सदी में जैनशासन में एक क्रांतिकारी महापुरूष हुए आचार्य भिक्षु। उनकी क्रांति को युग ने 'तेरापंथ' के नाम से पहचान दी। अपने दर्शन को जनभोग्य बनाने के लिए अत्यंत प्रतिकूल परिस्थितियों में उन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया। राजस्थानी में 38 हजार पद्य परिमाण वह साहित्य आज भी इस बात का साक्षी है। उनके यशस्वी चतुर्थ उत्तराधिकारी आचार्य जय से तो साहित्य की एक स्रोतस्विनी ही प्रवाहित हुई। साढ़े तीन लाख पद्य परिमाण वह साहित्य राजस्थानी का अनुपम गौरव है। राजस्थानी के साथ-साथ गुजराती का स्पष्ट प्रभाव भी मणिकांचन योग-सा प्रतीत होता है। विक्रम की बीसवीं सदी के छोर पर वि. सं. 1993 में आचार्यश्री तुलसी ने उस शासन की बागडोर संभाली।

युगचिंतन की युगभाषा में प्रस्तुति का संकल्प

देश की स्वतंत्रता के साथ हिंदी के अर्वाचीन रूप का निर्धारण हुआ। राष्ट्रभाषा के गौरव से भी उसे अभिमंडित किया गया। राष्ट्र की पहचान के लिए स्वतंत्र भाषा अपनी एक अर्थवत्ता रखती है। जिस देश की भाषा को छीन लिया जाता है, उसकी जड़ें स्वतः सूखने लगती हैं। एक दिन वह संस्कृति निष्प्राण हो जाती है। युगप्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी ने इस त्रासदी को समझा। उन्होंने युगभाषा में ही अपना चिंतन रखने का संकल्प किया। उस समय तेरापंथ के सामने प्रश्न था—क्या पढ़ें? आचार्यश्री तुलसी और उनके समर्पित शिष्य समुदाय ने न केवल इस प्रश्न को

उत्तरित किया, अपितु उसे 'क्या-क्या पढ़ें' में परिवर्तित कर दिया। आज तेरापंथ का विपुल साहित्य देश-विदेश में बड़े समादर के साथ देखा जाता है।

आचार्यश्री तुलसी के साथ उनके मेधावी छात्र मुनि नथमलजी वर्तमान में आचार्यश्री महाप्रज्ञजी, मुनि बुद्धमलजी आदि ने सर्वप्रथम इस बीड़े को उठाया। वे अनवरत अपने पथ पर बढ़ते रहे। उनके द्वारा निर्मित साहित्य न केवल जन-साधारण में मान्य हुआ, अपितु राष्ट्रीय साहित्यकारों द्वारा भी उसका मूल्यांकन किया गया। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर', सुमित्रानंदन पंत, हरिवंशराय बच्चन, जैनेंद्रकुमार, यशपाल जैन, विमलमित्र आदि ने मुक्तकंठ से उनके साहित्य की सराहना की। आचार्यश्री तुलसी एवं आचार्यश्री महाप्रज्ञजी का हिंदी साहित्य को सबसे बड़ा योगदान है कि उन्होंने साहित्यकारों की एक लंबी पंक्ति खड़ी की है। आज तेरापंथ के सैकड़ों साधु-साध्वियों ने हजारों कृतियों का निर्माण किया है। तेरापंथी साधु-साध्वियों के प्रवचन की मुख्य भाषा हिंदी ही है। भारत के किसी भी प्रांत में उनकी हिंदी को बड़े प्रेम से सुना जाता है।

विरोध राजनीति की हिंदी से

आचार्यश्री तुलसी का उस समय उन राज्यों में पदार्पण हुआ जिस समय हिंदी को लेकर विरोध का स्वर मुखर हो रहा था। अन्नामलइ विश्वविद्यालय (तमिलनाडु) में आचार्यश्री तुलसी के प्रवचन का कार्यक्रम रखा गया। विश्वविद्यालय के अधिकारी इस बात को लेकर चिंतित थे कि कहीं हिंदी भाषा को निमित्त बना कर छात्र उत्तेजित न हो जाएं, पर आचार्यश्री ने तो छात्रों की सहमति ले कर ही हिंदी में प्रवचन किया। प्रवचन सुनने के बाद अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए छात्रों ने कहा—'हमारा विरोध आपकी हिंदी से नहीं है। राजनीति की हिंदी से है। आप प्रेम और जीवन-मूल्यों की बात कहते हैं, इसलिए हम श्रद्धाप्रणत हैं।' दक्षिण भारत में हिंदी के प्रसार की दृष्टि से आचार्यश्री तुलसी और उनके संघ के योगदान को कभी विस्मृत नहीं किया जा सकता। आज बहुत-से लोगों का मंतव्य है कि अच्छे अध्ययन के लिए अंग्रेजी माध्यम आवश्यक है। उच्चतर अध्ययन के लिए तो वह अनिवार्यता की स्थिति तक पहुंच गया है। तेरापंथ धर्मसंघ द्वारा संस्थापित जैन विश्वभारती मान्य विश्वविद्यालय ने यह सिद्ध कर दिखलाया है कि हिंदी माध्यम से भी उच्चतर अध्ययन भली-भांति पूरा किया जा सकता है। उसके गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए हमें स्वयं संकल्पित होना होगा। इसी बात का एक दूसरा बड़ा प्रमाण है जैन विश्वभारती द्वारा प्रकाशित विशाल आगम साहित्य। प्राकृत और संस्कृत भाषा में निबद्ध इस साहित्य का जो रूप आचार्यश्री तुलसी के वाचना प्रमुखत्व और आचार्यश्री महाप्रज्ञजी के विवेचन से हिंदी भाषा में आया है, वह विश्व साहित्य की अनुपम धरोहर है। मानव जाति को आनेवाली कई शताब्दियों तक इससे पथदर्शन मिलता रहेगा। अध्यात्म और विज्ञान का अपूर्व समन्वय है इन ग्रंथों में। पग-पग पर हुए सभ्यता और संस्कृति के उद्गान से हर पाठक प्रेरणा ग्रहण कर सकता है। तेरापंथ के मंच से हिंदी में अनेक स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन भी अपने आपमें गौरव का विषय है। आज के माहौल में उनकी स्वतंत्र पहचान है। इस दृष्टि से अणुव्रत, प्रेक्षाध्यान, जैन भारती, तुलसी प्रज्ञा, युवादृष्टि आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान और अणुव्रत के मूल्यवान तथा हृदयस्पर्शी साहित्य ने न जाने कितने लोगों की जीवनधारा को मोड़ा है, जीने का सही नजरिया उन्हें दिया है, आत्मविश्वास का जागरण किया है। एक वाक्य में कहें तो अपनी साहित्यिक सेवाओं से तेरापंथ युग का प्रतिनिधित्व करने में सफल रहा है।

साहित्य स्रोतस्विनी

तेरापंथ के हिमालय से यह साहित्य स्रोतस्विनी गद्य और पद्य दोनों धाराओं में समान रूप से प्रवाहित होती रही है। प्रवचन, निबंध, यात्रावृत्तांत, संस्मरण, कथा, उपन्यास, सूक्ति आदि मुख्य गद्य विधाएं हैं और काव्य, कविता, गीत, मुक्तक, क्षणिका आदि पद्य विधाओं में भी विपुल साहित्य का सृजन हुआ है। बाल साहित्य, महिला साहित्य से लेकर प्रौढ़ों तक के लिए विशेष साहित्य का निर्माण हुआ है।

हिंदी भाषा के प्रसार में तेरापंथ धर्मसंघ की इन मूल्यवान सेवाओं का भले केंद्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार मूल्यांकन करे या न करे, पर इतिहास इसे कभी नजरअंदाज नहीं कर सकता। किसी सरकारी और ग़ैर सरकारी साहित्य संस्थान से कम मूल्यवान सेवाएं इसकी नहीं हैं।

कर्तव्य की आंख खुले

विश्वबंधुत्व और सात्मीकरण भारतीय संस्कृति की अपूर्व विशेषताएं हैं। हमें इस वैशिष्ट्य को ज्यों का त्यों कायम रखना है। अंग्रेजी के बढ़ते प्रवाह को देख मात्सर्य नहीं लाना है, अपितु अपसंस्कृति का हमला हम पर न हो इसके लिए क्षण-क्षण सावधान रहना है। भारतीय आत्मा की सुरक्षा संतों और साहित्यकारों का ही नहीं, जनसाधारण का भी पुनीत कर्तव्य है। हिंदी स्वर्ण जयंती का पुनीत प्रसंग उसी कर्तव्य की परिपालना के लिए एक प्रेरणा है। ❖

कहानी

अपनी तरफ देखकर

सुदर्शन

मेरे दफ्तर के बाबुओं में साधुराम सबसे जूनियर था। उसका मासिक वेतन केवल पच्चीस रुयए था। मगर उसका काम सबसे अधिक और सबसे सुथरा होता था। मैंने उसे कभी दफ्तर में देर से आंते नहीं देखा, न मैंने कभी उसके काम में कमी पाई। दस से चार बजे तक वह सिर नीचा किए बराबर अपने काम में लगा रहता था। अगर मैं कभी बाहर चला जाता, तो सब बाबू काम छोड़कर बातें करने लग जाते, पर साधुराम इसे अधर्म समझता था। वह उस समय भी बराबर अपने कागजों पर झुका रहता था। मैंने कभी उसे किसी से लड़ते-झगड़ते भी नहीं देखा। वह ऐसा भलामानस और सज्जन पुरुष था कि चपरासियों को भी 'तू' कहकर नहीं बुलाता था। कई बार मैंने साधुराम को चपरासियों से कोई काम कराने के लिए कहा, परंतु उसे उसने आप ही कर लिया। मैं इसे दफ्तर का अपमान समझता था और साधुराम को डांट देता था। परंतु वह इसे भी चुपचाप सह लेता था।

इतना ही नहीं, उसमें और भी कई गुण थे। वेतन थोड़ा होने पर भी उसके कपड़े दूसरों से साफ होते थे और मुखमंडल खिला हुआ फूल। मैंने उसे कभी उदास नहीं देखा, परेशान नहीं देखा, थका-हारा नहीं देखा, दफ्तर के दूसरे आदमी प्रायः अपना काम भी उसे सौंप दिया करते थे। कोई और होता, तो जल-भुनकर कोयला हो जाता। मगर साधुराम के मस्तक पर बल न पड़ता था। वह उसे भी ऐसे परिश्रम और मनोयोग से करता था, जैसे यह बेगारी न हो, उसका अपना काम हो।

अब वह साधुराम को सताने लगे, जलाने लगे, चिढ़ाने लगे। कोई कहता था—इससे जरा सोच-समझकर बात करना, सुपरिटेंडेंट की मूंछ का बाल है। कोई कहता था—वेतन-वृद्धि का मूलमंत्र चापलूसी है, यह बात साधुराम ने सीख ली है। कोई कहता था—हाकिम के बच्चों को मिठाई खिलाई जाए, तो हाकिम दयालु हो जाता है। कोई कहता था—हम तो इसे बड़ा धर्मात्मा समझते थे, मगर यह पता न था कि इस किरण के पीछे ऐसा अंधकार भी हो सकता था—मनुष्य की प्रकृति को समझना आसान नहीं, यह बात साधुराम ने सिखा दी।

उसके इन गुणों ने मेरे दिल में अपना स्थान बना लिया। मैं उसे अपने कमरे में बुलाने लगा। अब मुझे मालूम हुआ कि उसका हृदय आत्म-ज्ञान का सरोवर है। बातचीत करते समय वह कभी रोब में नहीं आता था—जिस बात पर अड़ जाता, उससे उसे हटाना आसान न था। मैं ज्यों-ज्यों उससे अधिक परिचित होता गया, उसका प्रेम मेरे हृदय में घर करता गया। यहां तक कि मैंने उसे अपने मकान पर भी बुलाना आरंभ कर दिया।

अब हर रोज सायंकाल को वह मेरे यहां आया करता था, और मुझसे घंटों बातचीत करता रहता था। आठ-दस दिन ही में मेरे बच्चे-बालों को उससे इतना प्रेम हो गया कि सांझ होते ही द्वार पर जा खड़े होते। यदि उसे आने में जरा भी देर हो जाती, तो व्याकुल हो उठते। परंतु साधुराम आत्म-सम्मान को कभी हाथ से नहीं जाने देता था। मेरी सम्मति में वह किसी दफ्तर का इन्चार्ज (Incharge) होने के योग्य था। परंतु प्रारब्ध ने उसे कहां फेंक रखा था! सोना पीतल की खान में पड़ा था और सोने को शिकायत न थी। उलटी पीतल को शिकायत थी।

●

मुझे दफ्तर में आए हुए एक वर्ष हो गया। इस बीच में कई स्थान खाली हुए, जिनके लिए जूनियर क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे। परंतु साधुराम ने ऐसी कोई कोशिश न की। मैं जानता था कि साधुराम उनके लिए *सब तरह से योग्य है। मैं चाहता था कि* अवसर मिले, तो उसे किसी उच्च पद पर

नियत कर दूं। मगर वह इतना सीधा-सादा और ऐसा संतोषी जीव था कि उसने एक बार भी मुझसे नहीं कहा कि मेरा ध्यान रखना।

पहले-पहल मैंने इसे उसका अभिमान और अपना अपमान समझा और तरक्की का हर एक अवसर दूसरों को देता गया। साधुराम पच्चीस ही पर पड़ा रहा। वह मेरे पास प्रतिदिन आता था, मुझसे घंटों बातचीत करता था, मगर इस विषय में उसने एक बार भी कहने की आवश्यकता नहीं समझी। यहां तक कि उसके अभिमानी होने के बारे में मेरी राय बदल गई और मैंने निश्चय कर लिया कि अबकी बार साधुराम का ध्यान मैं आप रखूंगा और जो ज़गह खाली होगी, वह उसे दूंगा।

सौभाग्य से मुझे अधिक प्रतीक्षा न करनी पड़ी। रिकार्ड ब्रांच का एक क्लर्क छह महीने की छुट्टी पर जा रहा था। उसका वेतन 50 रु. था। दफ्तर के कई क्लर्कों ने अर्जियां दीं और अपने-अपने अधिकार पर जोर दिया। मगर साधुराम इस बार भी चुप रहा, जैसे उसे इस घटना का ज्ञान ही न था। वह उसी तरह शांत था, परंतु मुझे शांति न थी। आग कहीं थी, आग की गरमी कहीं थी।

संध्या का समय था, वह नियमानुसार मेरे घर आया। मैंने छूटते ही कहा—'साधुराम! तुमने कुछ सुना?'

साधुराम ने बैठते हुए पूछा—'क्या?'

'गुलाम नबी छह महीने की छुट्टी पर जा रहा है।'

साधुराम का मुखमंडल तमतमा उठा, जैसे किसी ने उसे गाली दे दी हो। मगर वह संभलकर बोला—'जी हां! मैंने सुना है। पर बात क्या है?'

'उसके लिए बहुत-से क्लर्कों ने प्रार्थना-पत्र भेजे हैं।'

'जी! मुझे मालूम है।'

'परंतु तुमने कोई कोशिश नहीं की। यह तुम्हारा हक है। अरजी भेजो। और कल ही भेजो!'

साधुराम ने बेपरवाही से उत्तर दिया—'मुझे इसकी कोई आवश्यकता नहीं।'

मुझे आश्चर्य हुआ—'क्या कहते हो? तुम्हें कोई आवश्यकता नहीं?'

'रत्ती-भर भी नहीं।'

'तो उन्नति के सारे अवसर हाथ से खो दोगे?'

'यह आपका काम है। सरकार ने यह उत्तरदायित्वपूर्ण अधिकार आपको दिया है। अब यह निर्णय करना आपका काम है। और काम ही नहीं, कर्तव्य है कि वेतन-वृद्धि का जो अवसर आए, उससे वही आदमी लाभ उठाए, जो वास्तव में उसके योग्य हो। यदि आप अपने इस कर्तव्य का ध्यान नहीं रखते, तो परमात्मा के दरबार में अपराधी आप होंगे। मुझे प्रार्थना-पत्र भेजने की आवश्यकता नहीं। मेरा काम, काम करना है, आपका काम, काम देखना है। मैं अपना काम करता हूं, आप अपना काम करें।'

मैं साधुराम को नेक, परिश्रमी और आत्माभिमानी समझता था, मगर वह ऐसा निर्भय और खरी-खरी मुंह पर सुनाने वाला भी होगा, यह मुझे स्वप्न में भी आशा न थी। उसकी इन बातों ने उसका सम्मान मेरी आंखों में और भी ऊंचा कर दिया। मैं लज्जित होकर बोला—'साधुराम! तुमने मेरी आंखें खोल दी हैं। अब भूल न होगी—यह जगह तुम्हीं को मिलेगी। और तुम्हें अरजी देने की भी जरूरत नहीं।'

साधुराम बोला—'इसका कारण यह तो नहीं कि मेरा आपके यहां आना-जाना है? यदि यह जगह मुझे इस वजह से मिलती है, तो मैं इसे कभी स्वीकार न करूंगा। हां! अगर सचमुच आप यह समझते हैं कि मेरा काम अच्छा है, और मैं इस वृद्धि के योग्य हूं, तो दूसरी बात है।'

क्या शब्द थे! मेरे दिल में तीर-से चुभ गए। मैं सिर झुकाकर बोला—'मेरा सचमुच यही विचार है कि इससे पहले तुम्हारे साथ अन्याय होता रहा है। अब यह चांस हाथ आया है, यह तुम्हीं को मिलेगा।'

साधुराम ने नम्रता से—उस नम्रता से जिसमें आत्मगौरव का भाव झलकता था—कहा, 'थैंक यू!' और सिर झुका लिया।

अंगरेजी सभ्यता के यह दिखावे के शब्द मैंने कई बार सुने थे और हर बार यही अनुभव किया था कि यह निरर्थक हैं—सर्वथा व्यर्थ और निष्फल। परंतु आज वही शब्द साधुराम के मुंह से सुनकर मुझे ऐसा मालूम हुआ, जैसे मुझे कुबेर का धन मिल गया हो।

दूसरे दिन गुलाम नबी की जगह साधुराम को मिल गई। दफ्तर में हलचल-सी मच गई। सारे क्लर्क साधुराम के दुश्मन हो गए। शायद उनका यह खयाल था कि साधुराम काम करने के लिए है और वे वेतन-वृद्धि लेने के लिए। मगर मेरे इस निर्णय ने उनका भ्रम दूर कर दिया।

अब वह साधुराम को सताने लगे, जलाने लगे, चिढ़ाने लगे। कोई कहता था—इससे जरा सोच-समझकर बात करना, सुपरिंटेंडेंट की मूंछ का बाल है। कोई कहता था—वेतन-वृद्धि का मूलमंत्र चापलूसी है, यह बात साधुराम ने सीख ली है। कोई कहता था—हाकिम के बच्चों

को मिठाई खिलाई जाए, तो हाकिम दयालु हो जाता है। कोई कहता था—हम तो इसे बड़ा धर्मात्मा समझते थे, मगर यह पता न था कि इस किरण के पीछे ऐसा अंधकार भी हो सकता था—मनुष्य की प्रकृति को समझना आसान नहीं, यह बात साधुराम ने सिखा दी।

मगर साधुराम पर इस तूफान का जरा भी असर न हुआ। वह जिस तरह पहले प्रफुल्ल-वदन शांत-स्वभाव, प्रसन्न-चित्त रहता था, उसी तरह अब भी रहता। न उसे पद-वृद्धि ने अभिमानी बनाया, न क्लर्कों के विरोध ने दुखी किया। मेरी आंखों में उसकी प्रतिष्ठा और भी बढ़ गई। खयाल आया—कैसा पवित्र जीवन है, जो सदा एकरस चला जाता है। शत्रुता का जिस पर कोई प्रभाव नहीं, पक्षपात से रहित, सब अवस्थाओं में प्रफुल्ल-वदन। जिसके मस्तक पर कभी बल नहीं आता और जो आत्मसंयम में ऐसा अचल और अटल है—जैसे समुद्र में चट्टान।

●

मगर यह वृद्धि साधुराम को रास न आई। उसकी स्त्री बीमार रहने लगी। साधुराम में जहां और गुण थे, वहां उसमें यह गुण भी था कि वह अपनी स्त्री पर जान देता था। वह सब-कुछ सह सकता था, परंतु स्त्री की आंखों में आंसू देखकर उसके दिल में हलचल मच जाती थी—वह अधीर हो जाता था। कई मास तक चिकित्सा होती रही, मगर रोग दूर न हुआ। साधुराम घबरा गया। तूफान में नौका डोलने लगी।

अब उसके चेहरे पर वह कांति न थी, आंखों में वह तेज न था। फूल रह गया था, मगर उसका रूप-लावण्य कहां उड़ गया, यह किसी को भी मालूम न हो सका। मैं उसे देखता, तो व्याकुल हो जाता। साधुराम अब वह पहला साधुराम न था। वह दफ्तर में अब भी आता था। काम अब भी करता था, मगर वह पहली बात न थी। जिस संतोष की मूर्ति ने वेतन-वृद्धि के अवसर हाथ से जाते देखकर मुंह न खोला था, जिस सूरमा ने दफ्तर के क्लर्कों की अनुचित नोक-झोंक पर अपनी आन न छोड़ी थी, वही साधुराम अब हर रोज मेरे पास आकर छुट्टी के लिए मिन्नतें करता था। और मैं—हां, मैं—उसके इस परिवर्तन पर प्रसन्न था, क्योंकि मैं उसे देवता नहीं, आदमी देखना चाहता था। और आदमी का गुण है कि बड़े से बड़ा धैर्यधारी दिल भी एक सीमा पर पहुंचकर विचलित हो उठता है। देवता में गुण ही गुण होते हैं, आदमी में कमजोरियां भी होती हैं। आदमी को आदमी की कमजोरियां भी भली लगती हैं।

इसी तरह कई महीने बीत गए। साधुराम अपनी स्त्री की सेवा-शुश्रूषा में तन्मय था। उसका मुंह कुम्हला गया था, हंसी-खुशी मर चुकी थी, फिर भी सेवा-शुश्रूषा में लगा हुआ था। दिन-भर दफ्तर में काम करता, रात को स्त्री के सिरहाने बैठता। स्वास्थ्य बिगड़ने लगा। मगर उसका इधर ध्यान न था। वह अपने प्राणों की पूरी शक्ति से अपनी स्त्री का इलाज करा रहा था। मैं उसे प्रायः छुट्टी दे दिया करता था। उस समय उसकी आंखों में कृतज्ञता और बेबसी के भाव कैसे हृदय-भेदी होते थे!

दोपहर का समय था, मैं अपने कमरे में बैठा दफ्तर के बिल देख रहा था। इतने में चपरासी ने आकर कहा—'हुजूर! लाला सौदागरमल आए हैं।'

लाला सौदागरमल के यहां से हम कागज खरीदा करते थे। इस समय उनका आना मुझे बहुत नागवार गुजरा। फिर भी मैंने चपरासी से कहा—'बुला लो।'

लाला सौदागरमल अंदर आए और आते ही बोले—*'माफ कीजिएगा। मैं एक शिकायत लेकर आया हूं।'*

कागज की खरीद साधुराम के हाथ में थी। मैंने हिचकिचाते हुए जवाब दिया—'कहिए! क्या शिकायत है?'

सौदागरमल कुछ क्षण चुप रहकर बोले—'मैं बाहर गया हुआ था। मेरी गैरहाजिरी में आपके क्लर्क साधुराम ने मेरे आदमी से मिलकर झूठा बिल बनवा लिया है, और इस तरह से चार सौ रुपया उड़ा लिया है।'

मैं कुर्सी से उछलकर बोला—'मुझे विश्वास नहीं होता। आपको धोखा हुआ है।'

'बुलवाकर पूछ लीजिए। अभी सब बातें खुल जाएंगी।'

'परंतु पूछूं क्या? वह आदमी नहीं, देवता है। सारा दफ्तर उसकी सौगंध खाता है। वह मरता मर जाएगा, पर ऐसा काम कभी न करेगा। मैं उसे मुद्दत से जानता हूं।'

'फिर भी जरा बुलवा तो लीजिए।'

मैंने साधुराम को बुलवाया और उसे सिर से पांव तक देखते हुए पूछा—'मेरे पास कागज के संबंध में कुछ शिकायत पहुंची है। क्या वह सच है?' साधुराम के मुंह का रंग लाश के समान सफेद हो गया। उसने मेरी तरफ इस तरह देखा, मानो मैं उसका वध करने लगा था। साथ ही लाला सौदागरमल की ओर देखा। इस दृष्टि में आंसू थे और आंसुओं की ओट में बेबसी थी। मैंने अधीर होकर पूछा—'चुप क्यों हो? बोलो! क्या यह सच है?'

साधुराम ने कुछ क्षण तक सोचा और फिर साहस से उत्तर दिया—'जी हां! सच है।'

'तुमने कितना रुपया पाया है?'

'चार सौ।'

'और इनके नौकर ने?'

'उसने भी चार सौ।'

मैंने उसकी आंखों में अपनी आंखें डालकर कहा— 'तुम जानते हो, तुम क्या कह रहे हो? तुम कह रहे हो, तुमने चोरी की है!'

'जी हां। मैंने चोरी की है। मैं नहीं कैसे कह सकता हूं? भूल हो गई। अब आपकी दया पर हूं। चाहे बचा लें, चाहे नष्ट कर दें।'

साधुराम ने इस समय तक जो न किया था, वह आज किया। उसके चेहरे से आत्म-सम्मान का भाव इस तरह लुप्त हो गया था, जैसे सफेदी को स्याही भगा देती है। यह देखकर मेरे हृदय पर गहरी चोट लगी। यही अपराध अगर दफ्तर के किसी दूसरे आदमी से होता तो मैं उस पर इतना ध्यान न देता और डिपार्टमेंटल कार्रवाई करके इस मामले को यहीं दबा देता। मगर इस पाप में साधुराम का हाथ देखकर मुझे जहर चढ़ गया। मैं उसे कितना नेक समझता था! उस पर कितना विश्वास करता था! मुझे कभी उस पर संदेह तक नहीं हुआ था! मगर आज उसने अपनी साख गंवा दी। आज उसने अपनी आन मिटा दी। आज उसने अपना गौरव अपने हाथों से बरबाद कर दिया। मुझे अफसोस हुआ। मैंने ठंडी सांस भरी और कहा— 'साधुराम! मुझे तुमसे यह आशा न थी। तुमने मेरा मन तोड़ दिया है। मुझे तुम पर श्रद्धा थी। तुमने मुझसे मेरी वह श्रद्धा छीन ली है।'

●

पापी का सिर ऊंचा नहीं उठता। साधुराम ने भूमि की ओर देखते हुए जवाब दिया—'साहब! अब तो हो गया! इस बार माफ कर दीजिए, फिर कभी कोई अपराध न होगा। सच कहता हूं, यह मेरा पहला पाप है। और सच कहता हूं, अगर आप मुझे क्षमा कर दें, तो यही मेरा अंतिम पाप हो जाएगा।'

मैं क्रोध से पागल हो रहा था। झल्लाकर बोला, 'मैं माफ नहीं करूंगा। मैं तुम दोनों को पुलिस के हवाले कर दूंगा।'

साधुराम के पांव-तले से पृथ्वी खिसकती हुई मालूम हुई। सारा शरीर कांपने लगा। किसी दूसरे समय यह दृश्य मेरे क्रोध पर जल का काम कर जाता, मगर इस समय वही दृश्य तेल बन गया। मैंने कड़ककर कहा—'मैं क्षमा नहीं करूंगा। अब तुम्हारी जगह यह दफ्तर नहीं, जेलखाना है।'

सौदागरमल उठकर चले गए, मेरे क्रोध की मात्रा और भी बढ़ गई। मैंने फोन का चोगा हाथ में लिया और पुलिस लाइन का नंबर मांगा। साधुराम की आंखों में आंसू आ गए। रोते-रोते बोला—'जनाब! मेरी स्त्री बीमार थी...मेरे पास पैसा न था...मुझे किसी ने उधार न दिया।'

इससे आगे उसका गला रुंध गया। वह एक शब्द भी न बोल सका। मेरे सामने से परदा उठ गया। वह विशुद्ध आत्मा, जो सारे दफ्तर में सज्जनता की मूर्ति समझा जाता था, जिसका आत्म-सम्मान लोगों के लिए आदर्श था। जिसकी नेकनीयती पर शंका करना पाप था, जो सदा अपना सिर ऊंचा उठाकर चलता, वही देवता इस समय अपराधी के समान मेरे सामने खड़ा था। परंतु यह पाप—यह अपराध उसने लोभवश नहीं किया। धन की लालसा से नहीं किया। उसे अपनी प्यारी स्त्री के इलाज के लिए रुपये की जरूरत थी और रुपया उसके पास न था। वह इस कठिन परीक्षा में फेल हो गया। तो क्या वह अपराधी था?

एकाएक मुझे याद आया कि ऐसा समय मुझ पर भी आ चुका है। कई वर्ष हुए, मेरी स्त्री भी बीमार थी। उन दिनों मेरा मासिक वेतन भी बहुत थोड़ा था। दाल-रोटी का खर्च भी मुश्किल से चलता था। इस पर घर में बीमारी। हाथ में पैसा तक न रहा। मित्रों से सहायता मांगी, मगर किसी न परवाह न की। निराशा ने अंधेरा फैला दिया। इसी अंधेरे में पांव धैर्य की शिला से फिसलते हैं और सन्मार्ग आंखों से ओझल होता है। इसी प्रलय की रात में आदमी आयु-भर की कमाई लुटा बैठता है और मोहरूपी डाकू उसे पाप के रास्ते पर डाल देता है। ज्यादा तेज दौड़ने वाला आदमी भी कभी-कभी मुंह के बल गिर जाता है। उस समय मैंने मोह का सामना किया, पर कुछ बन न सका। धर्म की बाजी हार गया और चोरी कर बैठा। विचार आया, साधुराम के जीवन में भी वही प्रलय की रात आई थी। अंतर केवल इतना है कि इसका दोष प्रकट हो गया, मेरा अपराध अभी तक छिपा हुआ है। क्या इसी से मुझे यह अधिकार हो गया है कि मैं इसका जीवन नष्ट कर दूं?

मैंने फोन हाथ से रख दिया। याद ने फिर अतीतकाल के दफ्तर खोल दिए। उस समय मैं कितना सहमा हुआ था! दिन-रात यही सोचता रहता था कि अगर मेरी करतूत खुल गई तो क्या बनेगा? लोग हैरान रह जाएंगे! कहेंगे, हम तो इसे महात्मा समझे हुए थे, मगर यह हजरत निकला! शक्ल

देवताओं की है, काम शैतानों का है। वही अवस्था साधुराम के रूप में आज फिर मेरे सामने थी।

मैंने सोचा, अगर इसे पुलिस के हवाले कर दिया, तो इसकी बीमार स्त्री का क्या हाल होगा? मेरी आंखों में आंसू छलकने लगे। साधुराम के लिए हृदय में सोया हुआ प्रेम फिर जाग उठा। मैंने लंबी सांस लेकर सिर उठाया और कहा—'साधुराम! मैं तुम्हें माफ करता हूं। मगर यह रुपया तुम्हें लौटाना होगा।'

डूबते हुए को किनारा मिल गया। साधुराम का चेहरा चमकने लगा। वह घुटनों के बल बैठ गया और मेरी तरफ जल-भरी आंखों से देखकर बोला—'यह उपकार आयु-भर न भूलूंगा। आपने मुझे बचा लिया।'

●

इस घटना को कई वर्ष हो चुके हैं। साधुराम अब भी मेरे ही दफ्तर में काम करता है। वह आजकल 150 रु. पाता है और बड़े मजे में है। उसने अपनी सच्चरित्रता से अपने पाप के कलंक को धो दिया है। उसने चोरी का रुपया लौटा दिया है। दफ्तर के आदमियों की उस पर अब भी श्रद्धा है। और इतना ही क्यों, उसकी सज्जनता की धाक सारे शहर में बैठी हुई है। वह प्रायः मेरे मकान पर आता-जाता रहता है। उसे देखकर मेरा हृदय फूल की तरह खिल जाता है और मेरे लड़के-बाले तो उसे अपना गुरु समझते हैं। मैं सोचता हूं, उस समय अगर मैं उसे माफ न कर देता, तो आज वह क्या होता? चोर? या डाकू? या हत्यारा? आज वह समाज का एक अच्छा पुरजा है। उस समय वह समाज का गला-सड़ा फोड़ा होता।

मुझे अपने फैसले पर खुशी होती है, मगर मैं इस खुशी का जिक्र साधुराम से कभी नहीं करता। ❖

एक दिन ईसा के पास कुछ बच्चे आए। उनके शिष्यों ने उन्हें भगाना शुरू कर दिया, लेकिन ईसा ने यह देखा तो बोले :

तुम्हें बच्चों को वापस नहीं लौटाना चाहिए। बच्चों को भगाना नहीं चाहिए, बल्कि हमें उनसे सीखना चाहिए; क्योंकि वे वयस्क लोगों की अपेक्षा प्रभु-राज्य के अधिक निकट हैं। बच्चे बुरी-बुरी गालियों का प्रयोग नहीं करते, वे ईर्ष्या नहीं करते, व्यभिचार नहीं करते, कसमें नहीं खाते, किसी के साथ मुकदमेबाजी नहीं करते, और अपनी निजी जाति और दूसरी जातियों में किसी तरह का भेद-भाव भी नहीं करते। बड़े लोगों की निस्बत बच्चे 'स्वर्ग के राज्य' के अधिक निकट हैं। किसी को भी बच्चों को नहीं खदेड़ना चाहिए, बल्कि इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बच्चे प्रलोभन में न फंसें।

'प्रलोभन कल्याण और अच्छाई का जामा पहनकर मनुष्यों को बहुत ही बुरे-बुरे काम करने के कारण बनकर उन्हें नष्ट कर देते हैं। यदि मनुष्य प्रलोभन में फंसता है तो वह अपने शरीर और अपनी आत्मा—दोनों का ही नाश करता है। इसलिए प्रलोभन में फंसने की बजाय शारीरिक यातना सहन करना बेहतर है। जिस प्रकार एक लोमड़ी अपने पंजे को जाल में फंसा लेने पर छुटकारे के लिए उसे नोचती है, इसी तरह हर मनुष्य के लिए यह कहीं बेहतर है कि वह प्रलोभनों के आगे झुकने की बजाय अपने शरीर की यातना को सहन करे। बुराई का आदी बनने और उसे निरंतर बढ़ने देने के बजाय न केवल एक हाथ या एक पांव को ही, बल्कि समूचे शरीर तक को मार डालना बेहतर है। प्रलोभनों से संसार में दुख उत्पन्न होते हैं। दुनिया में सारी बुराइयों की जड़ प्रलोभन है।'

—लियो टॉल्सटॉय

यतीन्द्र मिश्र की कविताएं

•
आदमी की भाषा

आसान है
नदी से पानी की भाषा में बात करना
पेड़ से पत्तियों की भाषा में
फल से स्वाद की भाषा में बात करना
और खेत से फसल की भाषा में बात करना आसान है।

फिर क्यों आसान नहीं?
आदमी से इंसानियत की भाषा में बात करना।

•
प्रतिध्वनियां

खाली कमरों में
खाली कुछ भी नहीं रहता
न स्मृतियां
न भविष्य
न चिंताएं।
भरता है उसे हमारा होना
खाली रहती हैं सिर्फ
हमारे होने की प्रतिध्वनियां।

•
गनीमत है...

तंगी के बावजूद सोचा हर बार खरीदूं
दादी की लंबी उम्र के लिए दवाइयां

इस मुश्किल वक्त में उम्मीद
पापा के लिए

मां के लिए सपने

भाई के लिए हर बार
एक अवसर

ब्याहता बहन के लिए सुरक्षित भविष्य

गनीमत है...
सबके लिए मेरे पास सपने हैं
इसलिए ये शब्द जिन्हें मैं लिख रहा हूं
अपने हैं।

•
जिंदगी को जीते हुए

दादी नहीं जानतीं दुनियादारी
खोल देती हैं सारे किवाड़ मन के
किसी के भी सामने
कभी भी, कितनी ही बार।

अम्मा नहीं पहचानतीं जीवन का विद्रूप
और आदमी
इसीलिए
जलाती हैं रोज
देहरी, आंगन
और पूजाघर में घी का दिया।

बहन नहीं समझती
रिश्तों के झंझट
फिर भी जोड़ती रहती है
बड़े जतन से—सारे टूटे धागे
सजाती रहती है—खिलौने,
बनाती रहती है—घरौंदे।

पत्नी नहीं करती
कोई आशा,
कोई जिज्ञासा।

बावजूद इसके मैं जानता हूं
दादी की बेबसी
मां की चिंता
बहन का प्रेम
और पत्नी का दर्द
फिर भी इन सभी को
कभी नहीं देख सका
खुद की जिंदगी जीते हुए।

❖❖

शीलन

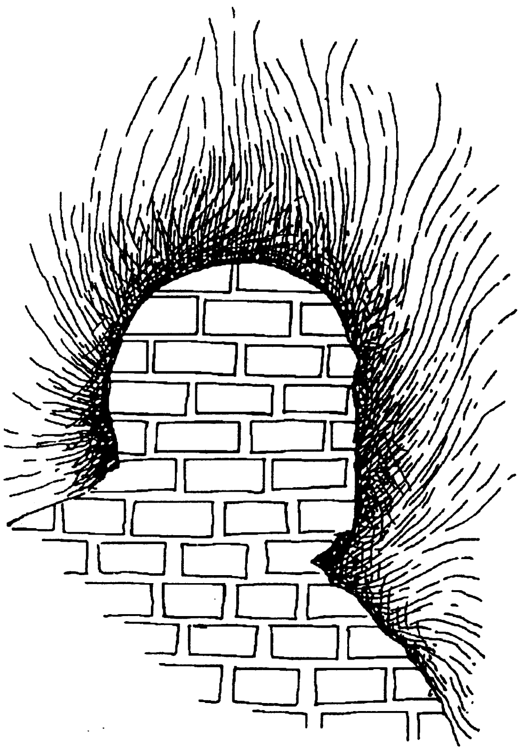

असल में, संस्कृति जिंदगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए, जिस समाज में हम पैदा हुए हैं, अथवा जिस समाज से मिलकर हम जी रहे हैं उसकी संस्कृति हमारी संस्कृति है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार पैदा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी संतानों के लिए छोड़ जाते हैं। इसलिए, संस्कृति वह चीज मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन को व्यापे हुए है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है। यही नहीं, बल्कि, संस्कृति हमारा पीछा जन्म-जन्मांतर तक करती है। अपने यहां एक साधारण कहावत है कि जिसका जैसा संस्कार, उसका वैसा ही पुनर्जन्म भी होता है। जब हम किसी बालक या बालिका को बहुत तेज पाते हैं तब हम अचानक कह उठते हैं कि यह पूर्व जन्म का संस्कार है। संस्कार या संस्कृति, असल में शरीर का नहीं, आत्मा का गुण है और जबकि सभ्यता की सामग्रियों में हमारा संबंध शरीर के साथ ही छूट जाता है, तब भी हमारी संस्कृति का प्रभाव हमारी आत्मा के साथ जन्म-जन्मांतर तक चलता रहता है।

—रामधारीसिंह दिनकर

स्त्रीकथा और उसके प्रतिफल

साध्वी श्रुतयशा

मानव समाज मनु एवं श्रद्धा की संतति है। यह पौराणिक मान्यता है। इस मान्यता के समानांतर ही पाश्चात्य साहित्य में एक पौराणिक कथा उपलब्ध होती है जिसमें मनु की भूमिका अदा करता है एडम और श्रद्धा का स्थान ग्रहण करती है ईव। पहले वे स्वर्ग में रहा करते थे। उन्हें स्वर्गीय सुख एवं दिव्य उपवनों में भ्रमण, फल-ग्रहण और आस्वाद इत्यादि की सारी सुविधाएं प्राप्त थीं। उन दिव्य वाटिकाओं में एक वृक्ष था जिसके फल खाने का उन्हें निषेध था। इसी कारण उस वर्जित वृक्ष को सामान्यतः वे 'फोरबीडन ट्री' कहा करते थे। कहा जाता है, एक दिन एडम और ईव घूमते हुए उधर से निकले और उनका मन उन फलों को खाने के लिए ललचा गया। उन्होंने फल खा लिया। नियम का भंग हो गया। परिणामस्वरूप उन्हें धरती पर भेज दिया गया। प्रस्तुत कथा के अनुसार यह मंतव्य प्रस्तुत किया जा सकता है कि फल की कामना ही पतन का कारण बनी।

मनोविज्ञान की दृष्टि से काम की मनोवृत्ति मूल मनोवृत्ति है। जीवितैषणा से भी कदाचित प्रबल होती है सुतैषणा (पुत्रैषणा)। काम जीवन की अधिकांश क्रियाओं की धुरी है। काम-गुणों—स्पर्श, रस, गंध आदि को ज्ञातधर्मकथा में नंदीफल से उपमित किया गया है।[1] नंदीफल शुभ वर्ण वाले, इष्ट गंध से भरपूर, स्वादिष्ट एवं हर दृष्टि से पुष्टिदायक प्रतीत होते हैं, आपात भद्र होते हैं, पर अंततः मारक परिणति वाले होने से परिणाम विरस होते हैं। उनकी छाया भी जीवन के लिए घातक है, क्योंकि—यतश्छायाप्येषा प्रथयति महामोहमचिरादयं जन्तुर्यस्मात्पदमपि न गन्तुं प्रभवति[2]। काम की इस मनोवैज्ञानिक प्रकृति के कारण ही ब्रह्मव्रत को सर्वव्रतों में शिरोमणि कहा गया है। काम वृत्ति के विषय में गहरे चिंतन एवं दीर्घकालिक अनुभवों के आधार पर ऋषियों ने यह निष्कर्ष निकाला कि पुरुष के लिए स्त्री का संपर्क, उसके शब्दों का श्रवण, उसके रूप का दर्शन, भोगों की स्मृति आदि ऐसे निमित्त हैं जो उसकी वासना को उद्दीप्त करते हैं। फलतः साधना काल में ब्रह्मचारी के लिए उन सब परिस्थितियों का वर्जन नितांत आवश्यक है जो उसके चित्त को प्रतिस्रोतगामी बनाएं।

आज स्त्रीकथा का रूप बहुत अधिक विस्तृत हो गया है। टेलीविजन का कोई 'सीरियल' ऐसा नहीं जिसमें फिल्मी 'स्टार्स' के 'हेयर स्टाइल', विविध प्रकार की 'ड्रेसेज़', विविध प्रकार के नाज-नखरे, तरह-तरह की 'एक्टिंग्स' और इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रम नहीं आते हों। अधिकांशतः समाचार पत्र एवं पत्रिकाएं ऐसी हैं जिनका एक पूरा का पूरा पृष्ठ नारी के सौंदर्य एवं उसके अधनंगे चित्रों से भरा रहता है। 'ब्यूटी पार्लर' में कई-कई घंटे तक शारीरिक सौंदर्य के तरह-तरह के उपायों एवं प्रयोगों से आज बहुत कम युवक और युवतियां वंचित रहते हैं, बल्कि यह क्रम किशोरावस्था से ही प्रारंभ हो जाता है जो प्रौढ़ावस्था तक चलता जाता है। फिल्मकथा और क्रीड़ाकथा को भी इसी के अंग समझना चाहिए, जिनकी बदौलत न केवल अरबों की संपत्ति नष्ट होती है, अपितु जीवन के अनमोल समय का अधिकांश हिस्सा भी व्यर्थ चला जाता है।

ब्रह्मचर्यव्रत की सुरक्षा के लिए दस नियमों का विधान है जो सिद्धांत की भाषा में नव बाड़ एवं कोट के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें चौथा नियम है—स्त्रीकथा का वर्जन[3]। ब्रह्मचर्य महाव्रत की भी पांचवीं भावना है स्त्रीकथा का वर्जन।[4] पांच प्रकार के प्रमाद में एक प्रमाद है विकथा प्रमाद।[5] ब्रह्मचर्य को प्रतिहत करने एवं काम-वेग को उत्तेजित करने के कारण स्त्रीकथा संयम की विराधना करती है अतः स्त्रीकथा भी विकथा है।

स्त्रीकथा—स्त्री संबंधी चर्चा, आलोचना-प्रत्यालोचना को आगमों में स्त्रीकथा के नाम से अभिहित किया गया है।[6] स्त्री शब्द यहां वासनावाची समझना चाहिए। अतः स्त्रीकथा का अभिप्राय प्रस्तुत प्रसंग में उन सभी वार्ताओं से है जिनसे वासनाओं को उद्दीपन मिलता है, ब्रह्मचर्य के प्रति आस्था भंग होती है। वासनात्मक जीवन की आकांक्षा अथवा विचिकित्सा के कारण जीवनगत पवित्रता का भंग होता है, एड्रिनलिन के असंतुलित स्राव के कारण कामकेंद्र पर नियंत्रण कम हो जाता है। वे

सारे प्रसंग, चाहे स्त्रियों के रूप से संबद्ध हों, वर्ण अथवा आकृति से संबद्ध हों, विविध प्रकार के नेपथ्य अथवा सौंदर्य प्रसाधनों से संबद्ध हों या जाति, कुल आदि से संबद्ध हों, स्त्रीकथा के अंतर्गत आते हैं। स्त्रीवर्ग में पुरुष संबंधी चर्चाएं भी वासनोद्दीपक होती हैं अतः पुरुषों के विषय में उपर्युक्त अथवा ऐसे ही अन्य विषयों की चर्चा करना भी स्त्रियों के लिए स्त्रीकथा है।

सूत्र में स्त्रीकथा के मुख्यतः चार प्रकार प्रज्ञप्त हैं—जातिकथा, कुलकथा, रूपकथा और नेपथ्यकथा।[7] निशीथ भाष्यकार ने नेपथ्यकथा के स्थान पर शृंगारकथा का उल्लेख किया है।[8] अभिप्राय की दृष्टि से नेपथ्यकथा और शृंगारकथा में विशेष अंतर नहीं है।

1. जातिकथा—जाति का एक अर्थ है—मातृकुल।[9] समाज में अनेक ऐसे वर्ग हैं जिनमें स्त्रीवर्ग अधिक रूपसंपन्न होता है। जहां स्त्रियों के अथवा पुरुषों के रूप का हेतु उस समाज का मातृवर्ग बनता है, उससे संबंधित चर्चा करना जातिकथा के अंतर्गत आता है। जैसे सोमलेर जाति की स्त्रियां अधिक रूपवती होती हैं। अमुक की मां इतनी सुंदर है, अमुक अपनी मां के कारण इतनी सुंदर आकृति वाली है इत्यादि चर्चाएं जातिकथा हैं। जातिकथा को ठाणं वृत्ति में एक श्लोक उद्धृत कर स्पष्ट किया गया है :

धिग् ब्राह्मणीर्धवाभावे या जीवन्ति मृता इव।
धन्यां मन्ये जने शुद्रीः, पतिलक्षेऽप्यानिन्दिताः।।[10]

अर्थात् ब्राह्मण जाति एवं शूद्र जाति की स्त्रियों की वासनापूर्ति की दृष्टि से चर्चा करना, पति के अभाव में ब्राह्मणी को वासनापूर्ति न कर सकने के कारण तिरस्कृत मानना आदि जाति-स्त्रीकथा हैं।

2. कुलकथा—पितृवंश को कुल कहा जाता है।[11] पिता के कारण हुई रूपसंपन्नता की चर्चा करना कुलकथा है। प्राचीनकाल में स्वर्णकार जाति के पुरुष अधिक रूपसम्पन्न माने जाते थे। किसी स्त्री के रूप-सौंदर्य आदि के विषय में उसके पितृपक्ष को जोड़कर चर्चा करना कुल-स्त्रीकथा है। जैसे—अमुक के पिता इतने सुंदर हैं, वह अपने पिता के कारण इतनी सुंदर है इत्यादि। स्थानांग सूत्र की वृत्ति में कुलकथा की व्याख्या भिन्न प्रकार से मिलती है।[12]

3. रूपकथा—रूप का अभिप्राय है—वर्ण, आकृति आदि।[13] किसी स्त्री के रूप-लावण्य, विलास, चितवन, इंद्रियों की सुघड़ता, आकृति की सौम्यता, मनोहरता आदि की चर्चा करना रूपकथा है। जैसे अमुक स्त्री का मुख चंद्रमा के समान है, अमुक स्त्री के नेत्र कमल के समान सुंदर हैं आदि। स्थानांग वृत्तिकार ने रूपकथा के प्रसंग में लाट देश की स्त्री का वर्णन किया है।[14]

4. शृंगारकथा—निशीथ भाष्यकार के अनुसार स्त्रियों की गति, प्रेक्षण क्रिया, भाषा आदि की चर्चा करना शृंगारकथा के अंतर्गत आता है।[15] स्थानांग वृत्तिकार ने शृंगारिक भाव से स्त्रियों की वेश-भूषा आदि की चर्चा को नेपथ्यकथा बतलाया है।[16]

आज स्त्रीकथा का रूप बहुत अधिक विस्तृत हो गया है। टेलीविजन का कोई 'सीरियल' ऐसा नहीं जिसमें फिल्मी 'स्टार्स' के 'हेयर स्टाइल', विविध प्रकार की 'ड्रेसेज़', विविध प्रकार के नाज-नखरे, तरह-तरह की 'एक्टिंग्स' और इसी प्रकार के अन्य कार्यक्रम नहीं आते हों। अधिकांशतः समाचार-पत्र एवं पत्रिकाएं ऐसी हैं जिनका एक पूरा का पूरा पृष्ठ नारी के सौंदर्य एवं उसके अधनंगे चित्रों से भरा रहता है। 'ब्यूटी पार्लर' में कई-कई घंटे तक शारीरिक सौंदर्य के तरह-तरह के उपायों एवं प्रयोगों से आज बहुत कम युवक और युवतियां वंचित रहते हैं, बल्कि यह क्रम किशोरावस्था से ही प्रारंभ हो जाता है जो प्रौढ़ावस्था तक चलता जाता है। फिल्मकथा और क्रीड़ाकथा को भी इसी के अंग समझना चाहिए, जिनकी बदौलत न केवल अरबों की संपत्ति नष्ट होती है, अपितु जीवन के अनमोल समय का अधिकांश हिस्सा भी व्यर्थ चला जाता है।

स्त्रीकथा के दुष्परिणाम

निशीथ भाष्यकार ने स्त्रीकथा के छह दुष्परिणामों की सुंदर विवेचना प्रस्तुत की है :[17]

1. स्वयं के मोह की उदीरणा—स्त्रीकथा शृंगार रस प्रधान होती है। शृंगारिक भावों का पुनः-पुनः अनुचिंतन, परस्पर उस प्रकार का वार्तालाप व्यक्ति के चित्त में विक्षेप उत्पन्न करता है, फलतः उसके शांत रस का उपघात हो जाता है। दूषित विचारों एवं कथा-प्रसंगों से व्यक्ति का वीर्य स्खलित होने लगता है और मोह की उदीरणा हो जाती है।

2. दूसरों के मोह की उदीरणा—जो वासनात्मक चर्चा में भाग लेता है, उसे सुनता है और बार-बार वैसे लोगों के संपर्क में आता है, उसके भी मोहनीय कर्म की उदीरणा होती है। शरीरशास्त्रीय दृष्टि से जो व्यक्ति पवित्रता के वातावरण में रहता है, सत्साहित्य का अध्ययन करता है, उसके पिच्युटरी ग्रंथि सक्रिय रहती है अतः एड्रीनल एवं गोनाड्स पर नियंत्रण रहता है। इस प्रकार स्त्रीकथा करने वाला उभयपक्षीय हानि करता है—केचित् नष्टैस्तु नाशिताः। स्त्रीकथा का बार-बार श्रवण भुक्तभोगियों के

स्मृतिहेतुक दोषों को उत्पन्न करता है और अल्पवयस्कों अथवा अभुक्तभोगियों के लिए कुतूहल को उत्पन्न करने वाला होता है।

3. जनता में अपवाद—निर्ग्रंथ प्रवचन में दीक्षित व्यक्ति पूर्ण ब्रह्मचर्य की साधना करने के लिए कृतसंकल्प होता है। यदि वह अपना समय साधना, सूत्र-स्वाध्याय एवं उच्चतर चिंतन में न लगाकर स्त्रीकथा में व्यतीत करता है तो जनता में बदनामी होती है कि अहो! यह साधु बना है और कैसी गार्हस्थ्य धर्म की बातें करता है।[18] इसी प्रकार विद्यार्थी-जीवन में भी इस प्रकार की अप्रशस्त चर्चाएं करना शारीरिक एवं मानसिक विकास की दृष्टि से घातक है।

4. सूत्र और अर्थ की हानि—जिस व्यक्ति को स्त्री-कथा में रस आने लगता है वह हर समय वस्त्र, अलंकार, रूप, शृंगार, ललित क्रीड़ाओं, हास्य, विब्बोक आदि की चर्चा करता रहता है। उन्हीं में समय बिता देने के कारण उसे न सूत्र-स्वाध्याय का समय मिलता है, न सूत्र के अर्थ-चिंतन का। दिन-भर टेलीविजन के सामने बैठे रहने वाले विद्यार्थी अध्ययन में कमजोर रह जाते हैं, क्योंकि वे न तो अध्ययन के लिए पर्याप्त समय निकाल पाते हैं और न उनकी अपने पाठ्य विषय में उतनी एकाग्रता व रुचि ही रह पाती है। यही स्थिति स्त्रीकथा करने वाले साधक की होती है। वह आगम-स्वाध्याय के स्थान पर पत्र-पत्रिकाओं का स्वाध्याय करता है। संयम-योगों—प्रतिक्रमण, प्रतिलेखन, समिति-गुप्ति आदि के प्रति भी लापरवाही करता है। कामगुणों में मूर्च्छित चित्त होने के कारण उसकी क्रियाएं द्रव्य-क्रियाएं हो जाती हैं, भावक्रियाएं नहीं।[19]

5. ब्रह्मचर्य की अगुप्ति—अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल एवं दोषों का विशाल उत्पत्तिस्थान है।[20] साधना का कोई भी प्रकार ऐसा नहीं, जिसमें उन्मुक्त भोगों और अनियंत्रित काम को उच्चत्तर लक्ष्य की प्राप्ति में साधनभूत माना गया हो। जैन आचार मीमांसा में ब्रह्मचर्य की दुष्करता एवं दुर्धरता को दृष्टिपथ में रखते हुए ही इसकी सुरक्षा के लिए दस समाधिस्थान की व्यवस्था दी गई है। स्त्रीकथा का वर्जन भी उनमें एक है, क्योंकि व्यक्ति उसी प्रकार का वार्तालाप करता है जैसे उसके विचार होते हैं। 'बायो फीडबेक' पद्धति के अनुसार 'गोनाड्स' का स्राव जितना अधिक होता है, हमारी 'पिच्युटरी' एवं 'पीनियल' ग्रंथि को उतनी ही उसकी पूर्ति करनी पड़ती है। जितनी वे अधोदिशा में अधिक पूर्ति करती हैं, उतना ही उनका प्रभाव कम हो जाता है। फलतः 'गोनाड्स' की मांग बढ़ती जाती है। वासनात्मक चर्चा संवेगों के उद्दीपन का हेतु है, अतः उससे ब्रह्मचर्य के प्रति शंका, कांक्षा, विचिकित्सा आदि दोषों की उत्पत्ति होती है।[21] खटाई के समान शृंगारभाव का संपर्क ब्रह्मचर्यरूपी दूध को विकृत बना देता है।

6. प्रसंग दोष—स्त्रीकथा में निरंतर भाग लेने वाले के मन में वासना की जागृति हो जाती है। स्त्री के प्रति राग-भाव का उद्दीपन होने से वह तरह-तरह के अकरणीय कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है। सरोवर के तल पर रहने वाली हट वनस्पति के समान अस्थिरचित्त हो जाता है। जिस किसी भी महिला को देखता है उसमें राग करने लगता है, बुरी नजर, वासनात्मक भ्रूविक्षेप, विभ्रमादि चेष्टाएं करने लगता है। हस्तकर्म एवं अब्रह्म-प्रतिसेवन तक की भी स्थिति बन जाती है।[22] व्याख्या साहित्य में बताया गया है कि यदि व्यक्ति कामांध हो जाता है तो वह मूर्ति, तिर्यंच-स्त्रियों आदि के साथ भी मैथुन सेवन में प्रवृत्त हो जाता है।[23] यदि दीक्षित अवस्था में हो तो वह प्रव्रज्या का परित्याग कर पुनः गृहस्थ भी बन जाता है।

जैन आचार ग्रंथों में यद्यपि सभी महाव्रतों की सुरक्षा के निमित्त से अनेक विधि-निषेध सूत्रों की रचना हुई है। तथापि निर्युक्ति, भाष्य एवं चूर्णि आदि अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि उनमें ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए बनाए गए नियमों की अधिकता है। साधु के लिए एक वस्तु निषिद्ध है, वही साध्वी के लिए विहित है। साध्वी के लिए अनाचारणीय अथवा अनेषणीय वस्तु का साधु के लिए कदाचित निषेध नहीं है इत्यादि एकदेशीय सूत्रों की भिन्न प्ररूपणाओं का आधार भी मुख्यतः ब्रह्मव्रत ही बना है। साध्वी को अपावृत द्वार वाले उपाश्रय में नहीं रहना, क्योंकि वहां तरुणों, वेश्या स्त्रियों, विवाह, राजा आदि की सवारी को देख कर रूपकथा का प्रसंग आ सकता है।[24] इसी प्रकार आपणगृह, रथ्यामुख, अंतरापण आदि सार्वजनिक स्थानों, स्त्रियों एवं पुरुषों के चित्रों से अलंकृत उपाश्रयों, गृहस्थों के आभरणों, वस्त्रों, भोजन, गंध, नाट्य आदि युक्त द्रव्य और भाव सागारिक उपाश्रयों आदि के विषय में किए गए विधि-निषेधों में भी एक मुख्य हेतु रहा—स्त्री अथवा वासना संबंधी विकथाओं का वर्जन।

वर्तमान संदर्भ में स्त्रीकथा का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है। विद्यार्थी जीवन से ही इसका दुष्प्रभाव प्रारंभ हो गया है। 'सैकण्डरी' और कहीं-कहीं 'प्राइमरी' स्कूल के विद्यार्थी भी इससे वंचित नहीं रह पाते, क्योंकि समाचार पत्रों एवं टेलीविजन पर उपलब्ध होने वाले समाचार, चित्र एवं अन्य उसी प्रकार की सामग्री, सहशिक्षा के कारण उद्दीप्त चित्तविप्लुति एवं मस्तिष्क की अपरिपक्वता का

इसमें भरपूर योग मिल जाता है। जहां जीवन का पूर्वार्द्ध ही ढलान से शुरू हो तो उत्तरार्द्ध की तो बात ही क्या? यही कारण है कि मानव समाज आज शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक—हर दृष्टि से रुग्ण हो रहा है। 'एड्स' जैसे मनोकायिक रोगों तथा बढ़ते हुए यौन-अपराधों से समाज को बचाने के लिए अपेक्षा है—इस विषय में विवेक एवं संयम का प्रशिक्षण हो, संचार साधनों की इस प्रकार की सामग्री पर प्रतिबंध लगाया जाए एवं मानव अपने समय का मूल्य आंकने की दिशा में भी सचेष्ट हो। ❖

संदर्भ सूची

1. ज्ञातधर्मकथा 15/16
2. सिंदूरप्रकर 99
3. उत्तराध्ययन 16/4
4. भिक्षु आगम विषय कोश, पृ. 476 (आवश्यक चूर्णि, पृ. 145-46)
5. निशीथ (सभाष्य चूर्णि), गा. 104
6. वही, पृ. 50
7. स्थानांग सूत्र 4/241
8. निशीथ भाष्य, गा. 119
9. वही, गा. 120 माति समुत्था जाती
10. स्थानांग 4/241-45 का टिप्पण, पृ. 505
11. निशीथ भाष्य, गा. 120 पिति-वंश कुलं तु अहव उग्गादी।
12. स्थानांग सूत्र 4/241-45 का टिप्पण, पृ. 506
13. निशीथ भाष्य, गा. 120-वण्णाऽऽकिति य रूवं।
14. स्थानांग सूत्र 4/241-45 का टिप्पण, पृ. 506
15. निशीथ भाष्य, गा. 120 गति-पेहित्ति-भास सिंगारे।
16. स्थानांग सूत्र 4/241-45 का टिप्पण, पृ. 506
17. निशीथ भाष्य, गा. 121
18. निशीथ चूर्णि, पृ. 50—इत्थिकहं करेंतो सुओ लोएणं उड्डाहो—अहो झाणोवयुत्ता तवस्सिणो।
19. बृहत्कल्प भाष्य, पृ. 698
20. दशवैकालिक सूत्र 6/16
21. उत्तराध्ययन सूत्र 16/4
22. निशीथ चूर्णि, पृ. 50—सलिंगट्ठितो वा अगारिं पडिसेवति संजतिं वा हत्थकम्मं वा करेति।
23. बृहत्कल्प भाष्य, पृ. 706, गा. 2413 तथा पृ. 171, गा. 2546
24. वही, पृ. 653, गा. 2304

❖❖

कृपया ध्यान दें

जैन भारती के लिए रचनाएं भेजते समय कृपया निम्नोक्त बिंदुओं का अवश्य ध्यान रखें—

● आपकी रचना कम से कम 1500-2000 शब्दों से लेकर 2500-3000 शब्दों के मध्य हो। कुछेक आलेख जैन भारती के एक पृष्ठ से भी कम आकार के होते हैं, जो हमारे लिए अपर्याप्त हैं। जैन भारती के लिए ऐसे आलेख काम में लेना संभव नहीं। अतः इतने छोटे आलेख न भेजें।

●● रचनाएं 'फुल स्केप' कागज पर एक तरफ हाथ से लिखी या टाइप की हुई हों। पूरा हाशिया अवश्य छोड़ें। दो पंक्तियों के बीच भी पर्याप्त स्थान होना जरूरी है।

●●● फोटोकॉपी न भेजें अथवा सुस्पष्ट हो तो ही भेजें।

कृपया उपरोक्त हिदायतों की ओर पूरा ध्यान देकर हमें सहयोग करें।

पराक्रम की विलक्षणता

साध्वी मुदितयशा

एक व्यक्ति ने धनी आदमी को देखा। मन में धनवान बनने की चाह उत्पन्न हुई। उसने उद्यम करना प्रारंभ कर दिया। कुछ धन अर्जित भी कर लिया। इसी दौरान उसकी भेंट एक विद्वान से हो गई। उसकी विद्वत्तापूर्ण बातों ने मन को प्रभावित किया। व्यक्ति की आंखों में विद्वान बनने के सपने तैरने लगे। वह विद्या की उपासना में तल्लीन हो गया। विद्यार्जन की दिशा में कुछ ही कदम आगे बढ़ पाया कि अचानक एक संगीतज्ञ से मिलन हो गया। संगीत की मधुर स्वर-लहरियों ने उसके मन को बांध लिया। ऐसा लगा मानो जीवन का असली आनंद संगीत में ही है। वह संगीत की साधना में जुट गया।

इस तरह समय व्यतीत होता रहा। काफी उम्र बीत जाने के बाद उसने पाया कि वह न धनी बन सका, न विद्वान और न संगीतज्ञ। विकास के दो मुख्य चरण माने जा सकते हैं—लक्ष्य का निर्धारण और लक्ष्य की दिशा में अनवरत पुरुषार्थ।

जो व्यक्ति समय पर अपने पराक्रम का प्रस्फोट करता है वह आगे बढ़ जाता है और जो अपने पराक्रम में पिछड़ जाता है वह विकास की दौड़ में भी पीछे ही रह जाता है। भगवान महावीर के जीवन को हम देखेंगे तो पाएंगे कि पुरुषार्थ उनके दाएं-बाएं खड़ा नजर आता है। उन्होंने जिस सत्य को जीया, वही उनका दर्शन बन गया। पुरुषार्थ के तो वे मंत्रदाता ही नहीं, महान प्रयोक्ता भी थे। इसीलिए सूत्रकार ने महावीर की स्तुति में लिखा—'से वीरिएणं पडिपुण्णवीरिए'—महावीर वीर्य से प्रतिपूर्ण वीर्य वाले थे। पुरुषार्थ की सघनता असंभव को भी संभव बना देती है। महावीर का पुरुषार्थ अप्रतिम था। उनकी पराक्रमशीलता के चार मजबूत पायदान थे—अमूर्च्छा, अभय, स्वावलंबन और सहिष्णुता।

नन्दीवर्धन बोला—प्रभो! आप जंगल में एकाकी घूमते हैं। आज जैसी अवांछनीय घटना कभी भी घटित हो सकती है। आप मुझे अनुमति दें—मैं अपने सैनिकों को आपकी सेवा में योजित करूं। महावीर बोले—नन्दीवर्धन! यह संभव नहीं। आत्मा की खोज करने वाला साधक आत्मबल के सहारे ही आगे बढ़ता है। वह दूसरों के सहारे आत्मोपलब्धि की कल्पना भी नहीं कर सकता।

महावीर के जीवन में पराक्रम का सूर्य सदा उदितोदित रहा। उनके पराक्रमशील जीवन की कुछ ही दिशाएं व्यक्त हैं, पर व्यक्त का जगत बहुत छोटा होता है, अव्यक्त का जगत असीम है। महावीर का पराक्रम भी असीम था। इसी पराक्रम के सहारे महावीर ने अपनी यात्रा प्रारंभ की, आगे बढ़े और एक दिन मंजिल तक पहुंच गए।

महावीर की साधना का उच्चतम ध्येय था—विशुद्ध आत्मा की उपलब्धि। इस ध्येय तक पहुंचने के लिए महावीर ने तीव्र पुरुषार्थ किया। वे कभी रुके नहीं। बाधाएं उन्हें विचलित नहीं कर सकीं और चरण मंजिल की दिशा में निरंतर आगे बढ़ते रहे।

पराक्रम की लौ को मंद करने वाला एक बड़ा कारण होता है—मूर्च्छा। जहां मूर्च्छा प्रबल होती है, वहां पराक्रम सो जाता है अथवा पराक्रम की दिशा गलत हो जाती है, लेकिन महावीर की संपूर्ण साधना ही अमूर्च्छा की साधना थी। उनका गृह-जीवन राजमहलों में बीता पर रागासक्ति उन पर कभी हावी नहीं हो सकी। अभिनिष्क्रमण से दो वर्ष पूर्व ही उन्होंने राजकीय सुविधाओं से अपने को सर्वथा विलग कर लिया। सचित्त भोजन-पानी का पूर्ण वर्जन, भूमि पर शयन, रात्रि भोजन का परिहार, ब्रह्मचर्य-पालन, स्नान-वर्जन आदि संकल्प उनकी अमूर्च्छा की चेतना से उपजे संकल्प थे।

अमूर्च्छा की साधना जितनी प्रखर थी, उतनी ही दीप्तिमान थी महावीर की अभय की चेतना। मूर्च्छा पर विजय पाने वाला भय के प्रवेशद्वार पर ताला लगा देता है। महावीर की जीवनगाथा के हर पृष्ठ पर अभय के आलेख अंकित हैं। भय ने उनका स्पर्श भी नहीं किया। महावीर ने अभय की साधना का संकल्प तो बहुत बाद में किया था, पर उनकी निर्भीकता बचपन में ही प्रतिष्ठा पा चुकी थी। मात्र आठ वर्ष की अवस्था में उन्होंने जिस पराक्रम का परिचय दिया, लगा कि क्षत्रियत्व जैसे साकार हो उठा हो।

कुमार वर्धमान अपने साथियों के साथ 'तिदुंसक' क्रीड़ा कर रहा था। उस समय इंद्र ने अपनी परिषद् में बालक वर्धमान के पराक्रम की प्रशंसा की तो एक देव से रहा न गया, वह परीक्षा के प्रयोजन से नीचे आया। बच्चे का रूप बना वर्धमान के साथ देव भी क्रीड़ा करने लगा। सामने वृक्ष के स्पर्श का लक्ष्य बनाकर दोनों ने दौड़ शुरू की। वर्धमान दौड़ में विजेता बने। क्रीड़ा की शर्त के अनुसार विजेता पराजित को घोड़ा बनाकर उस पर चढ़ता है। वर्धमान उस बालक रूप 'देव' को घोड़ा बनाकर उसकी पीठ पर आरूढ़ हो गए। क्रीड़ास्थल तक पहुंचने से पूर्व घोड़े बने उस बालक ने अचानक आकाश छूने वाला विशाल रूप बना लिया। वर्धमान को दैवी माया समझते देर न लगी। वर्धमान ने मुष्टि का तीव्र प्रहार किया। देव का विशाल शरीर सिमट गया। कहा जाता है कि अपने वचन की सत्यता प्रमाणित होते देख इंद्र नीचे आया और वर्धमान के शौर्य की स्तुति की। वर्धमान का नाम महावीर हो गया।

साधना की रणभूमि में उतरने वाला साधक सदैव अभय का कवच पहनकर ही आता है और अप्रमाद का ब्रह्मास्त्र अपने हाथों में थामे रखता है। महावीर की अप्रमत्तता अद्भुत थी। आयारो का निम्नोक्त सूक्त उनकी अप्रमत्तता को उजागर करने वाला है—'छउमत्थे वि परक्कममाणे णो पमायं सइं पि कुव्वित्था।'

महावीर ने शूलपाणि यक्ष के मंदिर में रात्रि प्रवास किया। वे कनकखल आश्रम से होकर उस स्थल पर गए जहां चंडकौशिक सर्प रहता था और दूर-दूर तक उसका आतंक था। पर महावीर भयभीत नहीं हुए, जीवन में अनेक प्रतिकूलताएं आईं और कष्टों के अनेक तूफान उठे, पर महावीर को किंचित भी कभी प्रकंपित नहीं कर सके।

महावीर के पराक्रमी व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण आधार था—श्रम और स्वावलंबन। हिंदुस्तान की धरती पर धर्म की दो धाराएं एक साथ बहीं। वैदिक संस्कृति का पल्लवन वेदों के आधार पर हुआ। वेद अपौरुषेय माने जाते हैं। श्रमण संस्कृति के सूत्रधार थे—श्रमण महावीर। उन्होंने श्रमण की पहचान के रूप में श्रम की प्रतिष्ठा की। श्रमशील व्यक्ति भाग्य-भरोसे नहीं रहता। वह श्रम की बूंदों से ही अपने भाग्य का निर्माण करता है।

वर्तमान युग में श्रम का बहुत अवमूल्यन हुआ है। जहां श्रम नहीं होता वहां व्याधियां शरीर को घेर लेती हैं और मानसिक प्रफुल्लता उससे कोसों दूर चली जाती है। अर्थ का संकट भी गहराने लगता है। समाज की स्वस्थता में भी श्रम की विशेष भूमिका है। आज की अनेक समस्याओं का समाधान है—श्रम और स्वावलंबन की जीवनशैली। महावीर की आत्मसाधना का पहला सूत्र था—स्वावलंबन। वे कभी एक स्थान पर नहीं रहे। ग्रामानुग्राम परिव्रजन उनका जीवनव्रत था।

कर्मारग्राम के बाहर महावीर ध्यानलीन थे। एक ग्वाला आया। महावीर को अपने बैलों की सुरक्षा व संभाल का दायित्व सौंप, कार्य पर चला गया। महावीर भला किसकी संभाल करते? पूरा दिन बीत गया। सायं होते ही ग्वाला आया और देखा, बैल वहां नहीं है। वह बैलों की खोज में निकल गया। कुछ देर की खोजबीन के बाद वापस आ गया। देखा—बैल महावीर के परिपार्श्व में ही घूम रहे हैं। मन में संदेह उभर आया। रोषाग्नि भड़क उठी। हाथ में रस्सा लेकर महावीर को मारने के लिए उद्यत हुआ, अचानक नन्दीवर्धन ने हाथ पकड़ लिया। ग्वाले को महावीर का सही परिचय प्राप्त हुआ तो मन में बड़ी खिन्नता हुई।

नन्दीवर्धन बोला—प्रभो! आप जंगल में एकाकी घूमते हैं। आज जैसी अवांछनीय घटना कभी भी घटित हो सकती है। आप मुझे अनुमति दें—मैं अपने सैनिकों को आपकी सेवा में योजित करूं। महावीर बोले—नन्दीवर्धन! यह संभव नहीं। आत्मा की खोज करने वाला साधक आत्मबल के सहारे ही आगे बढ़ता है। वह दूसरों के सहारे आत्मोपलब्धि की कल्पना भी नहीं कर सकता। इंद्र ने सेवा की प्रार्थना की तब भी महावीर ने यही उत्तर दिया। आवश्यक चूर्णि में चूर्णिकार ने लिखा है—'ताहे सामिणा भन्नति—नो खलु सक्का! एवं भूअं वा जं णं अरिहंता वा असुरिंदाण वा नीसाए केवलणाणं उप्पडेंति उप्पाडेंसु तवं वा करेंसु वा सद्धिं वा वच्चिंसु वा णण्णत्थ सएणं उट्ठाणकम्म बलविरियपुरिसक्कार परक्कमेणं।'

सहिष्णुता सफलता का अमोघ मंत्र है। महावीर की अध्यात्म यात्रा का प्रारंभ सहिष्णुता के संकल्प से हुआ। आयारचूला में इसका साक्ष्य पाठ है—'बारसवासाइं वोसट्ठकाए चत्तदेहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहियासइस्सामि।' जो व्यक्ति देह की आसक्ति का विसर्जन कर देता है, बड़े से बड़ा कष्ट सह लेता है।

साधना की दिशा में प्रस्थान के साथ ही महावीर के कष्टों की कहानी शुरू हो गई। मनुष्यों व पशुओं ने ही नहीं, देवताओं ने भी महावीर को कष्ट दिए। संगम देव ने एक रात में बीस बार मरणांतक वेदना दी, पर महावीर ने सबको धैर्य से झेला।

शेष पृष्ठ 50 पर

हम क्या करें

यशपाल जैन

जब हम कोई मीठी चीज खाते हैं तो मुंह का स्वाद अच्छा हो जाता है। कड़वी चीज खाते हैं तो स्वाद कसैला हो जाता है। अच्छे और बुरे की अनुभूति भी ऐसी ही होती है। लेकिन खाने की चीज से ही क्यों, हम मुंह से कोई मांगलिक शब्द निकालते हैं तो जीभ आनंदित होती है, अपशब्द निकालते हैं तो जीभ व्यथित होती है। लेकिन दुर्भाग्य से जीभ की व्यथा को हम अनुभव नहीं करते और अपशब्दों की बराबर बौछार करते हैं।

भारतीय मनीषा ने एक मंत्र दिया— 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' (सब सुखी हों।) लेकिन यह हो कैसे? यह वाणी के संयम और कर्म के विवेक से ही संभव हो सकता है। हम अपने मुंह से एक भी शब्द ऐसा न निकालें, जो दूसरों को कष्ट पहुंचाता हो। कहावत है, 'तलवार का घाव भर जाता है, किंतु वाणी के तीर का घाव कभी नहीं भरता।' वह हमेशा कसकता रहता है।

इसलिए कहा गया है कि हम जिस प्रकार का व्यवहार दूसरों द्वारा अपने प्रति नहीं चाहते, वैसा व्यवहार हम दूसरों के प्रति न करें—'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।' लेकिन हमारी स्थिति आज उस सुंदरी की तरह है, जो चाहती है कि सारी दुनिया उसे प्यार करे, परंतु वह किसी को प्यार न करे। हम यह भूल जाते हैं कि यह संसार आदान-प्रदान पर चलता है। जो जैसा देता है, वैसा पाता है।

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज में सब सुखी रहना चाहते हैं। सबके बीच बांधने वाला एक सूत्र है। वह सूत्र है प्रेम। वस्तुतः प्रेम वह तत्त्व है, जो प्रेम करने वाले को तो सुखी बनाता ही है, जिससे प्रेम किया जाता है, वह भी सुखी होता है। किंतु स्मरण रहे कि सुख और सुविधा दो भिन्न चीजें हैं। जो शरीर को आराम पहुंचाता है, वह सुख नहीं है, सुविधा है। लेकिन सुख का संबंध आत्मा से होता है। आप अच्छे घर में रहते हैं, अच्छी कार में बैठते हैं, उससे आपके शरीर को सुविधा प्राप्त होती है, परंतु आप सत्य बोलते हैं, सबको प्रेम करते हैं, अहिंसा के मार्ग पर चलते हैं, उससे आपको जो सुख मिलता है, वह आत्मिक सुख कहलाता है। यह आत्मिक सुख ही है, जिसकी अभीप्सा मनुष्य को करनी चाहिए। जो सुख पाना चाहता है, वह कोई भी काम ऐसा नहीं करेगा, जिससे किसी को दुख हो। समष्टि का सुख ही व्यक्ति का सुख बन जाता है तो सारा समाज सुखी हो जाता है।

हम किस मुंह से कहें कि सब सुखी हों? यह तो बबूल के पेड़ लगाकर आम पाने की आशा करने जैसा होगा। वर्तमान युग में हमने जितना पाया है, उससे कहीं अधिक खोया है। भौतिक मूल्य इंसान की सुविधा के लिए हैं, इंसान उनके लिए नहीं है। रोटी जीवन के लिए आवश्यक है, किंतु वह जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकती। जीवन का लक्ष्य है मानवीय मूल्यों की उपासना, आत्मा पर पड़े आवरण को हटाना। शरीर तो नाशवान है, मरणधर्मा है, आत्मा अजर-अमर है। अतः मानव का कर्तव्य है कि वह उस तत्त्व की उपासना करे, जो अविनाशी है।

सारे संसार में जितने संत, मनीषी हुए हैं, उन्होंने सदा दूसरों के सुख के लिए प्रयत्न किया है। वे उस मां के समान हैं, जो सबको पुत्रवत् मानती है और सबको खिला-पिलाकर स्वयं खाती-पीती है और सबको सुलाकर स्वयं सोती है। उसके सामने 'पर' का महत्त्व होता है, 'स्व' का नहीं। इसी से हम देखते हैं कि मां कष्ट सहन करके भी अपनी संतान को सुख-सुविधा पहुंचाने के लिए लालायित रहती है।

समाज में दो शब्द प्रचलित थे— पुण्य और पाप। एक समय था, जबकि इन दोनों शब्दों का प्रयोजन था। दूसरों की सेवा से पुण्य अर्जित होता था, दूसरों को मन या शरीर से कष्ट पहुंचाना पाप माना जाता था। मनुष्य को यही चिंता रहती थी कि उसके मुंह से ऐसा कोई शब्द न निकले, जो किसी को पीड़ा पहुंचाए; उसके हाथ से कोई ऐसा काम न हो, जो दूसरे पर चोट करे। उससे चारों ओर सुख और समृद्धि थी।

आज वह हालत नहीं है। आज तो मनुष्य यही सोचता है कि उसका स्वार्थ सिद्ध हो, भले ही उससे दूसरे की कितनी ही क्षति क्यों न हो जाए? विश्व में वर्तमान क्रोध का मुख्य कारण यही स्वार्थपरता है। आज भारत में ही नहीं, सारी दुनिया में सत्ता और अर्थ चंद मुट्ठियों में बंद हो गए हैं। राजनेता और धनपति की संवेदना का भंडार रिक्त हो गया है। आदिगुरु शंकराचार्य एक दिन कहीं जा रहे थे। मार्ग में एक कृषक खेत में हल चला रहा था। हल को खींचने वाला भैंसा तेज नहीं चल पा रहा था और कृषक उसकी पीठ पर कोड़े बरसा रहा था। शंकराचार्य उस नृशंस व्यवहार को आहत होकर देखते रहे। जब वह घर आए, उनकी मां ने उनकी कमीज उतारी तो उनकी पीठ पर कोड़ों के निशान थे। मां उन्हें देखते ही विह्वल हो उठी। उसने बेटे से पूछा कि यह क्या हो गया? शंकराचार्य ने सारा हाल कह सुनाया। बेटे की संवेदनशीलता को देखकर मां बिलख पड़ी। उसने बेटे को सीने से लगा लिया। आज वह संवेदनशीलता कितनों में है? आज तो एक का रुदन दूसरे का मनोरंजन करता है, एक का हास्य दूसरे को रुलाता है। सब सुखी हों, सब नीरोग हों, यह पुरातन युग का घोष बनकर रह गया है। इसी से हम चारों ओर हैरानी-ही-हैरानी देखते हैं।

वास्तव में यह स्थिति मनुष्य ने स्वयं उत्पन्न की है। भौतिक उपलब्धियां उसके लिए स्पृहणीय हो गई हैं, मानवीय मूल्य गौण हो गए हैं। विज्ञान और तकनीक ने दुनिया को छोटा बना दिया है। दूरियां सिमट गई हैं। बाहरी हवा ने हमारे पैर उखाड़ दिए हैं। गांधीजी ने कहा था कि मैं अपनी खिड़कियां और दरवाजे बंद नहीं करूंगा, जिससे बाहरी हवा आ सके; लेकिन अपने पैर इतनी मजबूती से जमाए रखूंगा कि बाहरी हवा उन्हें उखाड़ न सके।

भौतिक वस्तुओं की चकाचौंध ने हमारे मूल्य बदल दिए हैं, हमारी सभ्यता पर परदा डाल दिया है और हमारे आचार-विचार को नया बाना पहना दिया है। आज पड़ोसी से प्रेम करना तो दूर, परिवार बिखर रहे हैं, बाप-बेटे, भाई-भाई एक-दूसरे की जान के दुश्मन हो रहे हैं।

तब हम किस मुंह से कहें कि सब सुखी हों? यह तो बबूल के पेड़ लगाकर आम पाने की आशा करने जैसा होगा। वर्तमान युग में हमने जितना पाया है, उससे कहीं अधिक खोया है। भौतिक मूल्य इंसान की सुविधा के लिए हैं, इंसान उनके लिए नहीं है। रोटी जीवन के लिए आवश्यक है, किंतु वह जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकती। जीवन का लक्ष्य है मानवीय मूल्यों की उपासना, आत्मा पर पड़े आवरण को हटाना। शरीर तो नाशवान है, मरणधर्मा है, आत्मा अजर-अमर है। अतः मानव का कर्तव्य है कि वह उस तत्त्व की उपासना करे, जो अविनाशी है।

गांधीजी ने बड़े पते की बात कही है—'असत्य से सत्य को नहीं मारा जा सकता।' भगवान महावीर ने कहा है—'बैर से बैर शांत नहीं किया जा सकता।' अन्य संतों ने कहा है—'हिंसा का शमन हिंसा से नहीं किया जा सकता।' हमारे पूर्वजों ने कहा है—'मन बड़ा चंचल है। उसे जितना दो, उतना ही वह और मांगता है। इसलिए मन की चंचलता को रोको।' उनका यह भी कथन है कि जो अशांत है, वह दूसरों को शांति क्या देगा! जो स्वयं दुखी है, वह दूसरों को क्या सुख पहुंचाएगा!

कहने का तात्पर्य यह है कि सबसे पहले अपने तन-मन की मलिनता को दूर करो। हम सुखी होंगे तो सब अपने आप सुखी हो जाएंगे। मानव-जाति का अधिष्ठाता मनुष्य ही तो है। ❖

पराक्रम की....पृष्ठ 48 का शेष

लाढ़ प्रदेश के लोग रूक्षभोजी व स्वभाव से क्रोधी थे। महावीर ने वहां चातुर्मास बिताया और सर्दी, गर्मी व दंशमशकों के भयंकर कष्ट को सहा। कठोर तृणों के स्पर्श से शरीर बिंध जाता। लोग कुत्तों को काटने के लिए प्रेरित करते। दंड, मुष्टि, भाले, फलक, ढेले और कपाल से आहत करते। महावीर के शरीर का मांस काट डालते। कभी-कभी ऊपर उठाकर उछालते और जमीन पर गिरा देते। महावीर सदा क्षमाशूर रहे। उनकी तितिक्षाशक्ति विलक्षण थी। उन्होंने सारे कष्टों को कर्मक्षय का निमित्त मानकर सहा। जो अपनी सफलता की बागडोर पुरुषार्थ के हाथों में सौंप देता है वह बड़े से बड़े संकट में भी अधीर नहीं बनता।

महावीर के जीवन में पराक्रम का सूर्य सदा उदितोदित रहा। उनके पराक्रमशील जीवन की कुछ ही दिशाएं व्यक्त हैं, पर व्यक्त का जगत बहुत छोटा होता है, अव्यक्त का जगत असीम है। महावीर का पराक्रम भी असीम था। इसी पराक्रम के सहारे महावीर ने अपनी यात्रा प्रारंभ की, आगे बढ़े और एक दिन मंजिल तक पहुंच गए। महावीर का यह ध्रुववाक्य सदा हमारी स्मृति में रहे—'पुरिसा! परमचक्खू! विप्परक्कमा'—हे चक्षुष्मान पुरुष तूं सतत पराक्रम कर। भीतर सोए महावीरत्व को जागृत करने का सशक्त उपाय यही है।

❖

इच्छापूरण

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

सुबलचन्द्र के बेटे का नाम था सुशीलचन्द्र। पर आदमी हमेशा अपने नाम के अनुरूप ही नहीं होता। सुबलचन्द्र कुछ दुर्बल थे और सुशीलचन्द्र कोई खास शांत नहीं थे।

लड़का मुहल्ले-भर को परेशान किए फिरता था। इसलिए बाप कभी-कभी दंड देने के लिए उसे पकड़ने दौड़ते थे। लेकिन बाप के पांव में वात का रोग था और लड़का हिरन की तरह चौकड़ी भरता भाग सकता था। सो मुक्के-घूंसे थप्पड़-तमाचे ठीक जगह पर नहीं पड़ते थे। और संयोग से जब कभी सुशीलचन्द्र पकड़े जाते, तो उनकी शामत ही आ जाती।

उस दिन शनिवार था। दो बजे ही स्कूल से छुट्टी होने वाली थी। पर फिर भी स्कूल जाने को जी नहीं हो रहा था सुशील का। इसके कई कारण थे। एक तो उस दिन भूगोल की परीक्षा थी और दूसरे उस टोले के बोस-घराने में सांझ पहर आतिशबाजी थी। वहां सवेरे से ही धूम-धाम थी। सुशील का मन था कि दिन वहीं काटा जाए।

बहुत सोच-सोचकर वह स्कूल जाने के समय बिस्तर पर जाकर सो रहा था। सुबलचन्द्र ने पास आकर पूछा, 'क्यों रे, बिस्तर पर पड़ा क्यों है? आज स्कूल नहीं जाना?'

कह चुका हूं कि बापू यानी सुबलचन्द्र रोज ओसारे में चटाई डालकर बैठे-बैठे यही सोचा करते थे कि बचपन में सारा समय नटखटपने में बरबाद कर दिया था, पर अब अगर फिर से बचपन हाथ लगा तो सारे दिन शांत-शिष्ट होकर, दरवाजा बंद करके घर के भीतर बैठकर बस किताब लिए रहूंगा और पाठ कंठस्थ करता रहूंगा। इतना ही नहीं, सांझ पहर दादी से कहानी सुनना भी बंद कर दूंगा और दिया बालकर रात के दस-ग्यारह बजे तक पढ़ाई-लिखाई ही करता रहूंगा।

सुशील बोला, 'पेट में बड़ी मरोड़ हो रही है, आज स्कूल नहीं जा सकूंगा।'

सुबल ने उसकी सारी बहानेबाजी समझ ली। मन-ही-मन बोले, 'ठहरो, आज तुम्हें सबक सिखाता हूं।' पर प्रकट रूप में यह कहा, 'पेट में मरोड़ है? तब तो आज कहीं जाने की जरूरत नहीं। बोस के घर आतिशबाजी देखने के लिए हरि को अकेला ही भेज दूंगा। तेरे लिए लेमनजूस मोल ले रखे थे, वह भी आज रहे। तू चुपचाप पड़ा रह, मैं थोड़ा-सा पाचक बना लाता हूं।'

सुबलचन्द्र ने सुशील का घर बंद करके सांकल लगा दी और खूब कड़वा पाचक बनाने चले गए। सुशील बड़े घपले में पड़ गया। लेमनजूस उसे जितना ही पसंद था, पाचक से उसके देवता उतना ही कूच करते थे। उधर बोस के घर जाने के लिए उसका जी पिछली रात से ही छटपटा रहा था। लगा कि वह सुयोग भी हाथ से गया।

सुबल बाबू बड़े से कटोरे में पाचक लिए घर में घुसे ही थे कि सुशील बड़बड़ाकर बिस्तरे से उतर पड़ा और बोला, 'पेट-दर्द अब बिल्कुल रफा हो गया है, अब मैं स्कूल जा रहा हूं।'

पिता बोले, 'ना ना, स्कूल जाने की कोई जरूरत नहीं। तू पाचक पी ले और चुपचाप पड़ा रह।' और उन्होंने

जबरदस्ती पाचक पिला दिया और बाहर जाकर घर में ताला लगा दिया।

सुशील बिस्तरे पर पड़ा-पड़ा दिन-भर रोता रहा और सोचता रहा कि अगर कल से ही मेरी उम्र बापू जैसी हो जाए तो मैं अपने जी की किया करूंगा और कोई मुझे बंद नहीं रख सकेगा।

उधर सबल बाबू बाहर अकेले बैठे-बैठे सोचते रहे कि मेरे मां-बाप मुझे बहुत लाड़-प्यार करते थे, इसी से मेरी अच्छी पढ़ाई-लिखाई नहीं हो पाई। हाय, फिर अगर बचपन के वे दिन लौट आएं तो जरा भी समय बरबाद न करूं और एक-एक पल पढ़ाई-लिखाई में ही लगा दूं।

ठीक उसी समय इच्छा-ठकुरानी उस घर के बाहर वाले रास्ते से गुजर रही थीं। पिता-पुत्र के मन की इच्छा जानकर सोचने लगीं, 'अच्छा, तो ठीक, कुछ दिन इनकी इच्छा पूरी करके ही देखा जाए!'

यह सोचकर वह बाप के पास गईं और बोलीं, 'तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। कल से तुम अपने बेटे की उम्र के होंगे।' और लड़के के पास जाकर बोलीं, 'कल से तुम अपने बाप की उम्र के होंगे।' सुनकर दोनों बाप-बेटे फूले नहीं समाए।

बूढ़े सुबलचन्द्र रातों को ठीक से सो नहीं पाते थे। भोर के कुछ पहले नींद आती थी। पर उस दिन न जाने क्या हुआ कि अचानक बड़े भोर ही उठकर बिल्कुल उछलते हुए बिछौने से कूद पड़े। देखा, बिल्कुल छोटे-से हो गए, गिरे हुए दांत फिर से निकल आए हैं, दाढ़ी-मूंछ के बाल न जाने कहां गए, कोई निशानी तक उनकी नहीं बची है! रात को जो धोती-कुरता पहनकर सोए थे, सवेरे वे इतने ढीले हो गए कि आस्तीनें लगभग धरती तक झूल रही थीं, कुरते का गला छाती के नीचे तक आ गया था और धोती का कोंचा इतना लोट रहा था कि पांव उठाकर चलना भी एक समस्या बन गया था।

हमारे सुशीलचन्द्र का सदा का नित्य-नियम यह था कि वह नूर के तड़के उठकर चारों ओर ऊधम मचाते फिरते थे। लेकिन आज तो उनकी नींद खुलने का नाम ही नहीं ले रही थी। अपने बाप सुबलचन्द्र की धमाचौकड़ी के मारे नींद हराम हो गई तो उठे और उठते ही देखा कि कपड़े-लत्ते बदन पर इस तरह चुस्त हो उठे हैं कि उनके फट-चिरकर लीरे-लीरे हो जाने की नौबत आ गई है। सारा शरीर बढ़ गया है, पकी-अधपकी दाढ़ी-मूंछ के मारे आधा मुंह तो दिखाई भी नहीं पड़ता। सिर में भरपूर जुल्फें थीं, पर हाथ फेरकर देखा तो सामने से पूरी खोपड़ी सफाचट, बिल्कुल चिकनी-सी गंजी चांद निकल आई है।

बिस्तर छोड़ने की तबीयत ही नहीं हो रही थी। कई बार चुटकी बजा-बजाकर ऊंचे स्वर से जम्हाइयां लीं, कई बार इस करवट से उस करवट हुए, और अंत में उठे भी तो बाप सुबलचन्द्र की धमा-चौकड़ी से खीझते हुए ही उठे।

दोनों के मन की इच्छा तो खैर पूरी हो गई, पर दोनों बड़ी मुश्किल में पड़ गए। यह तो पहले ही बता चुका हूं कि सुशीलचन्द्र की इच्छा यह थी कि बापू यानी सुबलचन्द्र जैसा बड़ा और स्वाधीन हो जाऊं तो जब जैसा जी चाहेगा, करूंगा—पेड़ों पर चढ़ता फिरूंगा, पानी में कूदा करूंगा, कच्चे आम खाया करूंगा, चिड़ियों के बच्चे उतारा करूंगा, सारे देश में घूमा फिरूंगा, जब जी चाहेगा घर आकर जो जी चाहेगा खाऊंगा, मना करने वाला कोई न होगा। लेकिन अचंभे की बात है कि उस दिन सुबह-सवेरे उठकर पेड़ पर चढ़ने की उसे इच्छा ही नहीं हुई। जलकुंभी वाले पोखरे को देखकर उसे लगा कि अगर इसमें कूदूंगा तो जूड़ी-ताप धर दबाएगा। सो वह चुपचाप ओसारे में चटाई बिछाकर बैठ गया और बैठा-बैठा तरह-तरह की बातें सोचता रहा।

एक बार जी हुआ कि खेल-कूद एकबारगी छोड़ देना ठीक न होगा, थोड़ा खेल-कूद लेने की कोशिश कर देखने में हर्ज ही क्या है! सो वह पास के एक अमड़े के पेड़ पर चढ़ने के लिए तरह-तरह की कोशिशें करने लगा। कल तक जिस पेड़ पर वह गिलहरी की नाईं झटपट चढ़ लेता था, आज बूढ़े शरीर ने उस पर चढ़ने से बिल्कुल इनकार ही कर दिया। नीचे की एक नाजुक डाली पकड़कर चढ़ना चाहा तो उसके शरीर का बोझ पड़ते ही टूट गई और बूढ़ा सुशील धम्म से नीचे जमीन पर आ गिरा। पास के रास्ते से गुजर रहे बटोहियों ने बूढ़े को बच्चे की तरह पेड़ पर चढ़ते और गिरते देखा

तो वे हंसते-हंसते लोटपोट हो गए। सुशीलचन्द्र लाज के मारे मुंह नीचा किए फिर उसी चटाई पर आ बैठा। नौकर से बोला, 'अरे ओ, बाजार से एक रुपये का लेमनजूस ले आ!'

लेमनजूस के लिए सुशीलचन्द्र की चाह बड़ी प्रबल थी। स्कूल के पास की दूकान पर वह रोज रंग-बिरंगे लेमनजूस देखता था, सजा-सुजू कर रखे हुए। दो-चार पैसे जो भी उसे मिलते, उनसे लेमनजूस ही खरीदकर खाया करता था। सोचता था कि बापू की तरह खूब पैसे होंगे तो लेमनजूस खरीद-खरीदकर जेबें भर-भर रखूंगा और खाता रहूंगा। लेकिन आज जब नौकर ने एक रुपए का ढेर-सा लेमनजूस लाकर रख दिया और सुशीलचन्द्र ने उसमें से एक उठाकर अपने दंतहीन मुंह में डालकर चूसना शुरू किया तो बूढ़े मुंह को बच्चों का लेमनजूस तनिक भी नहीं भाया। एक बार सोचा कि सारे लेमनजूस अपने बालक पिता को दे डालूं, मगर तभी ध्यान आया कि ना, कोई जरूरत नहीं, इतने लेमनजूस खाकर वह फिर बीमार हो जाएंगे।

कल तक जो लड़के सुशील के साथ कबड्डी खेला करते थे, वे उसकी तलाश में आए तो बूढ़े सुशीलचन्द्र को देखकर अलग से ही भाग खड़े हुए।

सुशील ने सोचा था कि बापू की तरह स्वाधीन हो जाने पर अपने बाल-बंधुओं के साथ दिन भर डूडू-डुआ डूडू-डुआ करता कबड्डी खेला करूंगा, लेकिन आज राखाल, गोपाल, अक्षय, निवारण, हरिश और नन्द को अपनी ओर आते देखकर उसे भीतर-ही-भीतर बड़ी कुढ़न हुई—वह सोचने लगा कि क्या मजे से चुपचाप बैठा था, अब ये छोकरे न जाने कहां आ टपके धमाचौकड़ी मचाने!

कह चुका हूं कि बापू यानी सुबलचन्द्र रोज ओसारे में चटाई डालकर बैठे-बैठे यही सोचा करते थे कि बचपन में सारा समय नटखटपने में बरबाद कर दिया था, पर अब अगर फिर से बचपन हाथ लगा तो सारे दिन शांत-शिष्ट होकर, दरवाजा बंद करके घर के भीतर बैठकर बस किताब लिए रहूंगा और पाठ कंठस्थ करता रहूंगा। इतना ही नहीं, सांझ पहर दादी से कहानी सुनना भी बंद कर दूंगा और दिया बालकर रात के दस-ग्यारह बजे तक पढ़ाई-लिखाई ही करता रहूंगा।

पर बचपन फिर से हाथ आ जाने पर सुबलचन्द्र किसी सूरत से भी स्कूल-मुखी होना ही नहीं चाहते। सुशील कुढ़-कुढ़ कर झिड़कता कि, 'बापू, स्कूल नहीं जाओगे?' सुबल सिर खुजाकर मुंह लटका लेते और धीरे-धीरे कहते, 'आज मेरे पेट में मरोड़ है, आज स्कूल नहीं जा सकूंगा।' सुशील खिसियाकर कहता, 'जा क्यों नहीं सकोगे? स्कूल जाते समय मेरे भी ऐसी बहुत मरोड़ें हुआ करती थीं, मैं यह सब खूब जानता हूं!'

सचमुच सुशील इतने बहानों से स्कूल नागा किया करता था और वह भी अभी इतने हाल की बात थी कि उसे छल पाना उसके बाप के बस का रोग नहीं था। सुशील अपने छोटे-से पिताजी को जबरदस्ती स्कूल भेजने लगा। स्कूल की छुट्टी होने पर सुबल घर आकर जी-भर भाग-दौड़ करके खेलने-कूदने के लिए बेचैन हो उठते, लेकिन ठीक तभी उनका लड़का बूढ़ा सुशीलचन्द्र आंखों पर ऐनक चढ़ाए कृत्तिबासी रामायण के सस्वर पाठ में तल्लीन होता और सुबल की धमाचौकड़ी से उसके पाठ में व्याघात पड़ता। इसीलिए वह सुबल को जबरदस्ती पकड़ कर अपने पास बिठा लेता और हाथ में स्लेट थमाकर कहता कि लीजिए पिताजी, हिसाब का अभ्यास कीजिए। अंकगणित के ऐसे बीहड़-बीहड़ प्रश्न चुनकर देता कि एक-एक प्रश्न में बेचारे बाप को एक-एक घंटा समय लगाना पड़ता। सांझ पहर बूढ़े सुशील के कमरे में बहुत-से बूढ़े शतरंज खेलने बैठते। उस समय सबल को शांत रखने के लिए सुशील ने एक मास्टर रख दिया—मास्टर रात के दस बजे तक पढ़ाया करता था।

खान-पान के मामले में सुशील बड़ा सख्त था। कारण, उसके पिता सुबल जब बूढ़े थे तो उनका हाजमा ठीक नहीं था—थोड़ा भी अधिक खा लेते तो धुएं की डकार आने लगती थी। सुशील को यह बात अच्छी तरह याद थी। इसीलिए वह अपने बाप को किसी भी सूरत में अधिक खाने नहीं देता था। लेकिन यकायक छोटे हो जाने पर अब उनकी भूख इतनी बढ़ गई थी कि वे लुंडी तक पचा ले सकते थे। सुशील उन्हें खाने को इतना कम देता था कि भूख के मारे वे बेचैन-बेचैन फिरते थे। अंत में सूखकर कांटे हो गए और हाड़-हाड़ बाहर झांकने लगे। सुशील ने सोचा कि इन्हें कोई बुरी

बीमारी लग गयी है। इसलिए वह उन्हें तरह-तरह की दवाइयां निगलवाने लगा।

बूढ़े सुशील की हालत भी पतली थी। वह अपने पिछले अभ्यास के अनुसार जो भी करता वही उसके लिए असह्य हो उठता। पहले वह गांव में कहीं भी नाच-तमाशे की खबर पाता तो घर से भागकर वहां जा पहुंचता और इस बात की कोई परवाह नहीं करता कि कड़ाके की ठंड पड़ रही है या मूसलाधार बरसात है। अब बूढ़ा सुशील वैसा करता तो सरदी लग जाती, खांसी होने लगती, देह टूटने लगती, सिर फटने लगता और उसे तीन-तीन हफ्ते बिस्तर पकड़े रहना पड़ता। वह सदा से पोखरे में नहाता आया था, पर अब ऐसा करे तो केहुने, घुटने आदि जोड़-जोड़ में भयंकर वात-रोग पकड़ लेता, गांठें सूज जातीं और इलाज में छह-छह महीने लग जाते। उसके बाद से वह हर तीसरे दिन नहाता और वह भी गरम पानी में! सुबल को भी वह लाख सिर पटकने पर भी पोखरे में नहाने नहीं देता। पिछले अभ्यास के मारे वह तख्त से उछलकर उतरता तो हाड़ें टनाटन झन्ना उठतीं। मुंह में साबुत पान डालने के बाद ही उसे ध्यान आता कि हाय, दांत तो हैं ही नहीं, पान चबाना तो असंभव है! भूलकर कंघी-कूची करने लगता, तब कहीं उसे पता चलता कि हाय, लगभग सारा सिर तो गंजा है! कभी-कभी वह अचानक भूल जाता कि मैं अपने बाप की उम्र का बूढ़ा हो गया हूं और फिर पहले की तरह नटखट-पना करने लगता, टोले की बूढ़ी आंदी-बुआ की कलसी औचक ढेले मारकर फोड़ देता और बेचारी पानी से नहा जाती! बूढ़े की यह बचकानी दुष्टता देखकर लोग उसे दुर्-दुर् मार्-मर् करते और मारने दौड़ते और वह भी लाज-शर्म के मारे इतना गड़ जाता कि मुंह छिपाने को कहीं ठौर नहीं ढूंढ़ पाता।

सुबलचन्द्र भी कभी-कभी अचानक भूल जाते कि मैं बालक हो गया हूं। अपने को पहले जैसा ही बूढ़ा समझकर वह बूढ़ों के ताश-चौपड़ के खेल देखने लगता और पास बैठकर बूढ़ों जैसी बातें करने लगता। इस पर सभी उसे दुत्कारते कि 'जा जा, बच्चों के संग खेल-कूद, जा—पुरनिया-पन करने की कोई जरूरत नहीं!' —और वे कान पकड़कर उसे वहां से विदा कर देते। अक्सर अनचेती घड़ियों में अचानक भूलकर मास्टर से कह बैठता कि 'जरा तंबाकू तो खिलाना!' इस पर मास्टर उसे बेंच के ऊपर एक टांग पर खड़ा कर देते। नाई से कहता, 'अरे बेजा, कई दिन हो गए, मेरी दाढ़ी बनाने क्यों नहीं आया तू?' नाई सोचता कि लड़के ने खूब ठिठोली करनी सीख ली है! कहता, 'बस अभी आया, कोई दसेक बरस में!' और कभी-कभी पहले के अभ्यास-वश अपने बेटे सुशील को मार भी बैठता। सुशील बहुत ही नाराज होकर कहता कि 'पढ़-लिखकर यही बुद्धि हो रही है तुम्हारी? बित्ते-भर के लड़के होकर भी तुम बूढ़े आदमी पर हाथ उठाते हो! छी!' और यों ही बे-बात की बात में उसे सभी लोग मारते-पीटते, कोई घूंसे लगाता, कोई चपत लगाता तो कोई गाली देता।

तंग आकर सुबल ने एकाग्र मन से प्रार्थना करनी शुरू की कि, 'हाय, अगर अपने बेटे सुशील की तरह बूढ़ा और स्वाधीन हो जाता तो इस सांसत से जान बचती!'

उधर सुशील भी रोज हाथ जोड़कर कहता कि 'हे देवता, बापू की तरह मुझे छोटा बालक बना दो कि मनमाने खेल खेलता फिरूं। बापू इतने नटखट हो उठे हैं कि उन्हें संभालना मेरे बूते के बाहर हो गया है, चिंता के मारे मुझे घड़ी-भर भी चैन नहीं है!'

तब इच्छा ठकुरानी आईं और बोलीं, 'क्यों तुम्हारी साधें मिट गईं?'

दोनों बाप-बेटे दंडवत् प्रणाम करके बोले, 'दुहाई ठकुरानी की! मिट गयीं साधें! अब तो हमें वही बना दो, जो हम पहले थे।'

इच्छा ठकुरानी बोलीं, 'अच्छा, कल सवेरे उठने पर तुम लोग फिर वही रहोगे।'

दूसरे दिन सवेरे सुबल पहले जैसे बूढ़े होकर उठे और सुशील पहले जैसा बालक होकर उठा। दोनों को ऐसा लगा मानो किसी सपने से जगे हों। सुबल ने गला भारी करके कहा, 'सुशील, व्याकरण कंठस्थ नहीं करोगे?'

सुशील ने सिर खुजाते हुए कहा, 'बापू, मेरी किताब खो गई है।' ❖

जैन भारती पाठक पहेली

नियम

1. यह पहेली जैन भारती के जून, 2001 अंक में प्रकाशित सामग्री पर आधारित है, अतः इस पहेली के उत्तर जैन भारती के जून अंक की सामग्री पर आधारित होने चाहिए। 2. प्रकाशित पहेली के हल/उत्तर दिनांक 10 अक्टूबर, 2001 तक जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर पहुंच जाने चाहिए। प्रत्येक प्रविष्टि पाठक पहेली प्रारूप में ही भरी होनी चाहिए। 3. अधूरे भरे हुए या देर से पहुंचे हलों पर विचार नहीं किया जाएगा। कटी-फटी प्रविष्टियां स्वीकार नहीं की जाएंगी। 4. इस पहेली के सही हल और विजेताओं के नाम नवम्बर, 2001 के अंक में प्रकाशित किए जाएंगे। 5. सर्वशुद्ध हलों में से पुरस्कार का चयन लाटरी-पद्धति द्वारा होगा। प्रतियोगिता में पुरस्कार विजेताओं के बारे में संपादकीय निर्णय अंतिम होगा। इस बाबत कोई पत्र-व्यवहार नहीं किया जाएगा। चयनित प्रथम प्रतियोगी को 151 रुपये का साहित्य अथवा नकद राशि पुरस्कार स्वरूप दी जाएगी, जबकि सर्वशुद्ध हल वाले प्रथम दस प्रतियोगियों को जैन भारती एक साल तक सम्मानार्थ भेजी जाएगी। 6. एक लिफाफे में एक से अधिक प्रविष्टियां भी भेजी जा सकती हैं, लेकिन हर एक प्रविष्टि के साथ कूपन संलग्न करना अनिवार्य है। जिरोक्स (छायाप्रति) या प्रतिलिपि स्वीकार नहीं की जाएगी। 7. लिफाफे पर एक कोने में 'जैन भारती पाठक पहेली' अवश्य लिखा होना चाहिए।

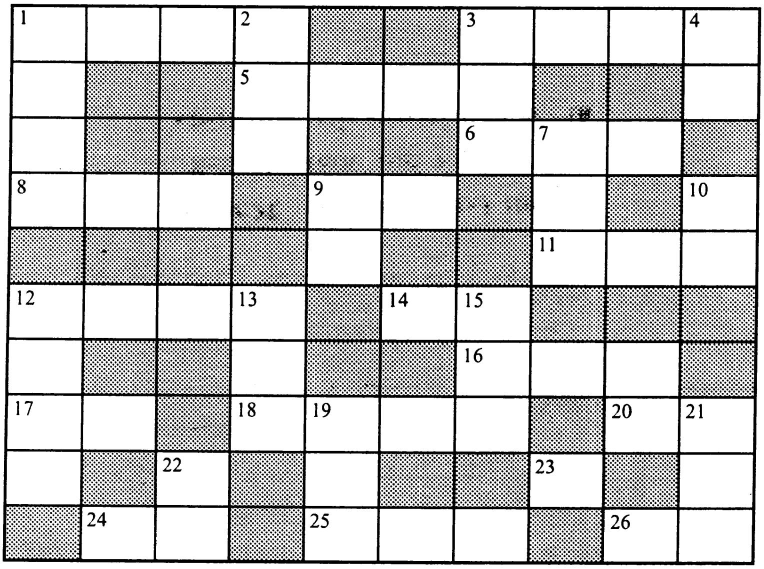

प्रविष्टि कूपन

जैन भारती पाठक पहेली-0019

नाम प्रतियोगी...उम्र............

पूरा पता..

....

....

बाएं से दाएं

1. 'पर्वत की चोटी के......न बन सकें [4]
3. ......मनुष्य 'सुख' भी दुख से भोगता है [4]
5. क्या लिखा है 'अब और......नहीं [4]
6. किसान को कितनी.....होती है [3]
8. स्कूल में डर किस......व्यापा होता है [3]
9. मूढ़ात्मा......विश्वस्तः, ततो नान्यद् [2]
11. '......राज्य! ओहो, तुम्हारा उत्साह तो [3]
12. '......एण्ड नेचुरल साइन्सेस एण्ड टेक्नालॉजी' [4]
14. जो जस करहि, सो तस......चाखा [2]
16. ......हुसैन और ईसाई संत और [3]
17. ध्रुवपद के उस......पर मस्तक भी झुक जाए [2]
18. तो कभी......की निर्मलता, कभी कृष्ण की कर्मशीलता [4]
20. अपने जीवन में,......-रग में प्रभु-सत्ता में [2]
24. वह अधिकाधिक......बटोरने में संलग्न है [2]
25. आधुनिक......कवि ने वेदांत में प्रतिपादित [3]
26. एक क्षण में जहां करोड़ों को......-विक्षत कर सकता है [2]

ऊपर से नीचे

1. ......में भी जा सकता है [4]
2. 'प्राप्ति' की इच्छा से......होकर करता है [3]
3. सत्यवादी हरिश्चंद्र, भक्त प्रह्लाद,...... [3]
4. ......आदमी को तंबाकू सूंघने की आदत थी [2]
7. महाजनों का......भी छोड़ना पड़ा, पर [3]
9. सत्य का......, इसकी महिमा सदा-सर्वत्र [2]
10. अर्थात् उसकी महिमा को......लेता है [2]
12. ......छोड़कर सेब का बगीचा लगाएंगे ?' [4]
13. घोड़ों की......को मजबूती से थामे, [3]
15. फेंकने से भी पानी में......उठ आती है [3]
19. स्वतंत्रता के बाद देश के जो......बने, [3]
21. हम उसको......न समझें [3]
22. हम......, वाणी और शरीर से कर्म करते हैं [2]
23. यह धरती '......' होगी और जल जीवनदाता [1]

आ. श्रीकैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर
श्रीमहावीर जैन आराधना केन्द्र
कोबा (गांधीनगर) पि. 382009

जैन भारती पाठक पहेली - 0017

सर्वशुद्ध हल व विजेताओं के नाम

1 सा	र	2 भू	त		3 नी		4 वि	5 व	र
ध		मि		6 अ	म	र		णि	
क		7 का	म	ना			8 आ	क	9 र
	10 आ			ग्र		11 ज			श्मि
12 आ	का	श		ही		ग		13 दि	यां
	र				14 ल	ह	15 रा		
16 य			17 शु		क्ष		ज		
त्न		18 नि	रू	19 प	ण		20 नी	र	21 व
		शा		ट			ति		स
22 पा	व	न		23 वा	ह	न		24 दी	न

प्रथम चयनित विजेता—शशिकला गोलछा, गंगाशहर

अन्य दस चयनित विजेता

1. लीलादेवी दूगड़, विजयनगरम्
2. संजय जैन, बालोतरा
3. हेमराज सेठिया, बैंगलोर
4. नारायणचन्द गुलगुलिया, खाजूवाला
5. अंजना गोखरू, आसिंद
6. किशनलाल सिपाणी, मनेंद्रगढ़
7. सचिन विजयकुमार कमोला, अंबाजोगाई
8. देवीलाल कोठारी, केलवा
9. सुरेश पी. मेहता, सूरत
10. डा. उज्ज्वला प्रवीण चौरड़िया, भुसावल

जैन भारती पाठक पहेली के सभी पुरस्कार (प्रारंभ से ही) बंशीलाल श्रीमाल चेरीटेबल ट्रस्ट तिरपाल उद्योग, फैंसी बाजार, गुवाहाटी (असम) के सौजन्य से।

हार्दिक शुभकामनाओं सहित :

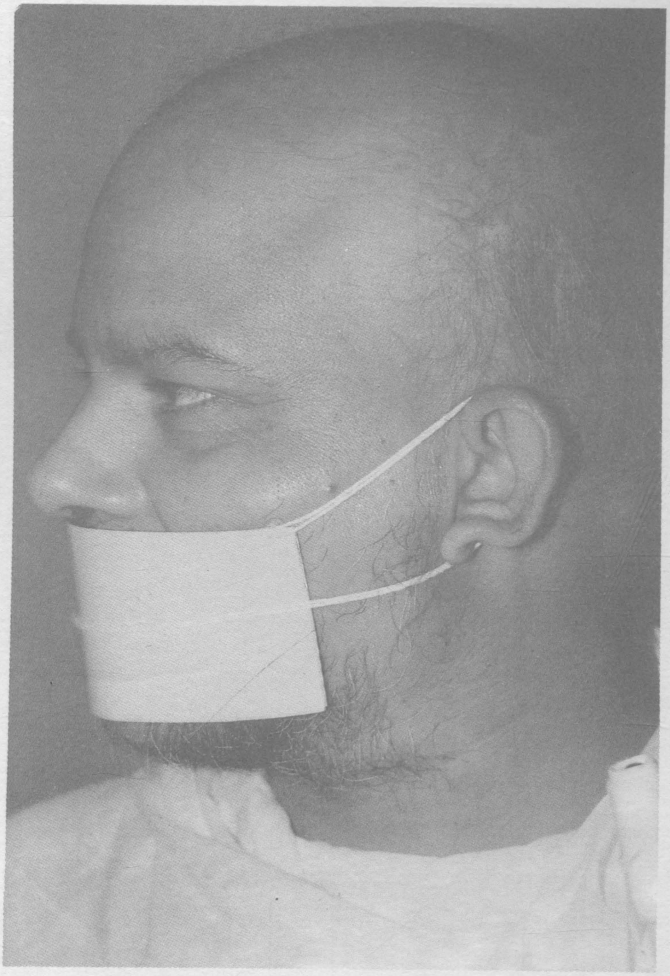

हेमराज शामसुखा

विनीत टेक्सफैब लिमिटेड

101, मामुलपेट, बंगलौर 560053

फोन : 2872355, 2871754

जैन भारती, सितंबर, 2001 ■ भारत सरकार पं. सं. : 2643/57 ■ डाक पं. सं. : आर जे/डब्ल्यू आर /11/48/2000

We owe it to you Customers !

It is easy to be No. 1, but difficult to remain there. But, we have been doing it for the past 5 years with our dedicated services and thanks to the invaluable support & trust in us by our valued customers. With promptness in-built, we have been serving the Indian Industries tirelessly against their requirements of **Bearings, Grease, Seals, Blocks, Sleeves & accessories** and **a variety of Maintenance Products** and **Condition Monitoring systems of SKF.** The New Millennium is on; an era that will bring forth a fresh batch of discoveries, newer wonders in technology, a greater fillip to standards of life as a whole. Rest assured, Premier (India) Bearings Limited will remain very much a participant to this absorbing, all-engaging process and will be there with you to meet your requirements.

SKF

Bearing is not our only business.

CR

Premier (India) Bearings Limited

(India's No. 1 SKF Industrial Distributors)

25 Strand Road, 4th Floor, Calcutta 700 001, Ph- 220-1926/ 0640, Fax- 2485745, Email-pibl@vsnl.com

Branches at - Mumbai, Chennai, Bangalore, New Delhi, Chandigarh & Haldia

भँवरलाल सिंघी, महामंत्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, 3, पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कोलकाता-1 के लिए जैन भारती कार्यालय, गंगाशहर, बीकानेर (राज.) से प्रकाशित एवं सांखला प्रिण्टर्स, बीकानेर द्वारा मुद्रित।